वर्ष ३३ | अंक ७

आषाढ २००९



कविता

चित्रकार : श्री. के. व्ही. फडके]   [बॉम्बे आर्ट सोसायटी बम्बइकी कृपाने

जुलाई १९५२

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

वैदिक धर्म

सहसंपादक
श्री महेशचन्द्र शास्त्री, विद्याभास्कर

वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.   वी. पी. से ५॥) रु. विदेशके ६॥) रु.

विषयानुक्रमणिका

वेदोंकी संहिताएँ

	मू.	डा. व्य.
(१) ऋग्वेद (इसमें सर्वानुक्रम, देवतासूची, ऋषिसूची, मंत्रसूची आदि भी है।)	१०	१।।
(२) यजुर्वेद (वाजसनेयी-संहिता)	३	।'
(३) ,, काण्व-संहिता	४	।।।
(४) ,, मैत्रायणी-संहिता	६	१
(५) ,, काठक-संहिता	६	१
(६) ,, सर्वानुक्रम सूत्र (वाजस०)	१।।	।।
(७) ,, वा० सं० पादसूची	१।।	।।
(८) ऋग्वेद मंत्रसूची	२	।।

सामगान

सामवेद कौथुम शाखीय

ग्रामगेय (वेय प्रकृति) गानात्मकः	मू.	डा. व्य.
प्रथमः तथा द्वितीयो भागः	६	१
प्रकृति गान (गान भाग)	५	।।

दैवत संहिता

	मू.	डा. व्य.
दैवत संहिता प्रथम विभाग	६	१।।
१ अग्नि देवता मंत्र २४४३ पृ सं. ३४६		
२ इन्द्र देवता ,, ३३६२ ,, ३७६		
३ सोम देवता ,, १२६१ ,, १५०		
४ मरुद्देवता ,, ४६४ ,, ७२		
दैवत संहिता तृतीय भाग	६	।।।

(इस तृतीय भागमें कुल १२८ देवता हैं और मंत्र संख्या ३७५८ है।)

हिंदी पुस्तकें

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

१ से १८ ऋषिका दर्शन (एक जिल्द)
(१) मधुच्छन्दा, (२) मेधातिथि, (३) शुनःशेप (४) हिरण्यस्तूप, (५) कण्व, (६) सव्य, (७) नोधा, (८) पराशर, (९) गोतम, (१०) कुत्स, (११) त्रित, (१२) संवनन, (१३) हिरण्यगर्भ, (१४) नारायण, (१५) बृहस्पति, (१६) वागाम्भृणी, (१७) विश्वकर्मा, (१८) सप्त ऋषि रु २१।।, १।।]
(१९) वसिष्ठ ऋषिका दर्शन, ७ रु.) डा व्य १।।

यजुर्वेदका सुबोध भाष्य

	मू.	डा. व्य.
१ प्रथम अध्याय श्रेष्ठतम कर्मका आदेश	१।।	।=
२ ३० वा ,, मनुष्योंकी सच्ची उन्नतिका सच्चा साधन	२	।≡
३ ३२ ,, एक ईश्वरकी उपासना	१।।	।=
४ ३६ ,, सच्ची शांतिका सच्चा उपाय	१।।	।=
५ ४० ,, ईशोपनिषद्	२	।=

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

	मू.	डा. व्य.
काण्ड १-५	८ रु.	१।।
,, ६-१०	८	१।।
,, ११-१८	१०	१

उपनिषद् ग्रंथमाला

	मू.	डा. व्य.
१ ईशोपनिषद्	२	।।
२ केन उपनिषद्	१।।	।।
३ कठ उपनिषद्	१।।	।।
४ प्रश्न उपनिषद्	१।।	।।
५ मुण्डक उपनिषद्	१।।	।।
६ माण्डूक्य उपनिषद्	।।	=

साक्षात्कार ग्रंथ

	मू.	डा. व्य.
ईश्वरका साक्षात्कार प्रथम भाग	२	।।=

श्रीमद्भगवद्गीता

भगवद्गीता पुरुषार्थबोधिनी (टीका समेत)

	मू.	डा. व्य.
,, तीन पृथक् जिल्दोंमें	१५	१।।
,, एक जिल्दमें	१२।।	१।।
,, श्लोकार्ध सूची	।।।	।=
भगवद्गीता लेखमाला भाग १, २, ७	३।।	१
गीताका राजकीय तत्वालोचन	२	।।
गीता कर्मयोगी गणेशानन्दजी कृत	१	।=
भगवद्गीता छोटी पुस्तक	१	।-

वाल्मीकि रामायण

	मू.	डा. व्य.
१ बालकांड	४	।।=
२ अयोध्या कांड पूर्वार्ध	४	।।=
३ ,, ,, उत्तरार्ध	४	।।=
४ अरण्यकांड	४	।।=
५ किष्किन्धाकाण्ड	४	।।=
६ सुन्दरकांड	४	।।=
७ युद्धकांड छप रहा है।		

मंत्री- स्वाध्याय-मंडल, भारतमुद्रणालय, आनन्दाश्रम, किल्ला पारडी. (जि. सूरत)

वैदिक धर्म

आषाढ, विक्रम-संवत् २००९, शके १८७४, जुलाई १९५२

क्रमांक ४३

वर्ष ३३ अंक ७

वीरकी प्रशंसा

यः शूरेभिर्हव्यो यश्च भीरुभिर्यो धावद्भिर्हूयते यश्च जिग्युभिः
इन्द्रं यं विश्वा भुवनाभि संदधुर्मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥
(ऋ १।१०१।६)

जिसका बल विजयी है, जो शत्रुओंका विनाश करता है, जिसे शत्रु कंपा नहीं सकते, जिसे अनेक लोग अपनी सहायताके लिये बुलाया करते है, ऐसा यह वीर इन्द्र है। जिसका कभी पराजय नही होता ऐसा यह उग्र, बलवान् एवं प्रजाजनोको बल प्रदान करके उनका संवर्धन करनेवाला जो वीर है उसका वर्णन कीजिये एवं उसका यश बढाइये।

जो शत्रुओंका नाश किया करता है, जिसे शत्रु स्थानभ्रष्ट नहीं कर सकते, जिसकी अनेक लोग सहायता लिया करते है और इस प्रकार निर्भय हो जाते हैं, जिसकी सदैव विजय हुआ करती है, जो स्वयं अत्यन्त बलवान् है और जो प्रजाजनोका बल सदैव बढाया करता है उस वीरकी प्रशंसा करनी चाहिए और उसका यशोगान करना चाहिए।

महाभारत

१ आदिपर्व	मूल्य ७	डा. व्य १॥
२ सभापर्व	३॥	॥।
३ शांतिपर्व (पूर्वार्ध)	१०	१।

महाभारतकी समालोचना

इसके दो भाग है। प्रत्येक भागका मूल्य	०॥।	।≡

वेद परिचय

१ वेद परिचय भाग १	१॥	।=
२ ,, ,, २	१॥	।=
३ ,, ,, ३	२	।≡

वेद प्रवेश

१ मरुद्देवता का मंत्र संग्रह	५	॥।
२ अश्विनौ देवताका मंत्र संग्रह	५	१
३ ऋग्वेदके अग्नि सूक्त	२	॥

संस्कृत पाठमाला
(चौवीस भाग)

(संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेका सुगम उपाय)

प्रत्येक पुस्तक	॥	=
१ से २४ भागोंका पुरा सेट	१२	१

धर्म-शिक्षाके ग्रंथ

बालक धर्म शिक्षा प्रथम भाग, प्रथम श्रेणीके लिये ≡

,, ,, द्वितीय भाग, द्वितीय ,, ,, ।-

वैदिक पाठमाला तृतीय श्रेणीके लिए ।-

वेद-स्वयं-शिक्षक

वेदका स्वयं शिक्षक भाग १	१॥	।=
,, ,, ,, भाग २	१॥	।=

आगम निबंध माला

१ वैदिक स्वराज्यकी महिमा	॥।	=
२ वैदिक सर्प विद्या	॥=	=
३ वेदमें चर्खा	॥=	=
४ मानवी आयुष्य	॥	=
५ इन्द्र शक्तिका विकास	॥।	=
६ वेदमें कृषिविद्या	॥	-
७ छूत और अछूत प्रथम भाग	१	।≈
८ ,, ,, द्वितीय भाग	१	।≈
९ शतपथ बोधामृत	।=	-

देवता परिचय ग्रंथमाला

१ ऋग्वेदमें रुद्र देवता	॥=	=
२ वैदिक अग्निविद्या	२	।≡
३ वैदिक चिकित्सा	१॥	।-

योग साधनमाला

	मू.	डा. व्य
१ ब्रह्मचर्य	१॥	।≡
२ योगके आसन	२॥	॥
३ योगके आसन चित्रपट	।	-
४ योगसाधनकी तैयारी	१	।=
५ सूर्यभेदन व्यायाम	॥।	।-
६ सूर्य नमस्कार	१	।-
७ ,, ,, चित्रपट	≡	-

उद्बोधक पुस्तकमाला

१ विजया दशमी (दशहरा)	॥	≈
२ भारत वर्षके हिंदू सम्राट्	॥।	।-
३ आर्योंका भगवा ध्वज	।	
४ हिंदी मुसलमानोंके कारनामोंका चिट्ठा	।=	
५ श्री छत्रपति शिवाजी महाराजका राजा जयसिंहको पत्र	≋	
६ शेषशायी नारायण	=	
७ स्पिनोझा और उसका दर्शन	२	॥

वैदिक व्याख्यान माला

(१) मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन। (२) वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त। (३) अपना स्वराज्य। (४) श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु। (५) व्यक्तिवाद और समाजवाद। (६) ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ये व्याख्यान तैयार हैं। दूसरे तैयार हो रहे हैं। [प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।≈) छः आने और डा. व्य. =) दो आने]

विष्णु सहस्र नाम मू. १॥ ट. ख. ।

मासिक पत्र

वैदिक धर्म वार्षिक चंदा ५) वी. पी से ५॥)

पं. मदन मोहन विद्यासागर
तेनाली, के पुस्तक

१ वेदोंकी अन्तःसाक्षी का महत्त्व	०—१—०
२ संस्कार महत्त्व	०—१—०
३ जर्न कल्याण का मूल मन्त्र	०—८—०
४ आर्य स्तोत्र	०—८—०

अपरिग्रह राज्य

लेखक.- श्री देवराज, विद्यावाचस्पति

अपरिग्रह का अर्थ है— परिग्रह नहीं। परिग्रह अर्थात् चारों ओर से ग्रहण। चारों ओर से ग्रहण करना अर्थात् संग्रह करना। संग्रह किया ही करना। संग्रह के मुकाबिले में व्यय न करना। चारों ओर से आने के रास्ते खुले हों और जाने के रास्ते बन्द हों तो निश्चयसे मृत्यु परिणाम होता है। इसलिये तत्वज्ञानियोंने परिग्रह का बिलकुल निषेध किया है।

परिग्रह का ठीक उलटा परिव्रज है। सर्वतो भ्रमण होना चाहिए, एक स्थान में इकट्ठा नहीं होना चाहिए। विश्वकी महान् रचना में देखें और परमाणु की सूक्ष्म रचना में देखें, सर्वत्र भ्रमण ही भ्रमण है। शरीर में सब धातुएं सूक्ष्म रूपसे रक्त में मिश्रित हुई परिभ्रमण करती रहती हैं। यदि शरीर का कोई भी अङ्ग रक्त को अपने पास अधिक मात्रा में इकट्ठा करके रखे, इस लालच से कि यह एक महान् शक्ति है, इसे अधिक मात्रा में इकट्ठा कर लिया जावे। इतना अधिक मात्रा में कि जितना अन्य किसी के भी पास न हो। तो इस का परिणाम यही होगा कि शरीर रोगी हो जावेगा, अशक्त हो जावेगा।

जैसे शरीर में रक्त एक महान् शक्ति है उसी प्रकार जन समाज में धन एक महान् शक्ति है। शरीर में रक्त का परिभ्रमण रहता है, इसी प्रकार समाज की शक्तियोंमें धन का परिभ्रमण रहना चाहिए। किसी अङ्ग में रक्तका परिभ्रमण अधिक हो जाय और अन्य अङ्ग में रुक जाय तो वह व्यक्ति रोगी हो जाता है और उसे स्वस्थ करने की चिन्ता रोगी के शुभचिन्तकों को होती है। वैसे ही जब संसारके व्यक्तियों में धन संग्रह करने की वृत्ति बढती है तब संसार रोगी हो जाता है और लोकहितार्थ तत्वज्ञानियों को उसके स्वस्थ करनेकी चिन्ता हो जाती है।

संसार में रहते हुए सब मनुष्य यह चाहते हैं, कि सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये जीवनोपयोगी आवश्यक सामग्री सर्वदा उन्हें मिलती रहे, वे कभी उससे वञ्चित न रहें। लोगों को यह विश्वास नहीं है कि अति-वृष्टि और अनावृष्टि, भूकम्प और टिड्डीदल, नदियों की बाढ, कृषि आदि वस्तुओंके नानाविध विनाशक भाव, समुद्र का स्थलपर फैलना इत्यादि कारणोंसे जीवन सामग्री हमेशा उनको मिलती रहेगी, इसलिये मनुष्योंमें परिग्रह की ओर वृत्ति बढती है।

जीवन-सामग्री को संग्रह करने की अनेक पद्धतियां हैं, एक पद्धति तो बिलकुल सीधी है कि हरेक मनुष्य अपने पास अन्न जल वस्त्र मकान आदि का संग्रह करे. परन्तु हर एक मनुष्य न इतना उद्यमशील है और न इतना साधनसम्पन्न है कि अपने जीवन की अत्यावश्यक साधन सामग्री को भी अकेला ही अपने लिये सम्पन्न कर सके। मनुष्य बडे आराम से, रोटी खाता हुआ, रोटी तो खा लेता है परन्तु यह नहीं ध्यान में लाता कि रोटी प्राप्त करने के लिये कितने अधिक व्यवसाय उस रोटी के पीछे काम कर रहे हैं, उन सब व्यवसायों को एक मनुष्य अकेला एक समय या अनेक समयों में नहीं कर सकता।

लोहा, लकडी, पानी, कृषि, मकान आदिका निर्माण मनुष्य को अपने कार्यों के लिये आवश्यक होता है। एक मनुष्य एक ही समय लोहार, सुतार, कहार, किसान, राज आदि नहीं बन सकता। इसलिये मनुष्य पारस्परिक सहयोग से मिलकर काम करने के लिये बाधित हैं, क्योंकि मनुष्य ने दूसरों के साथ मिलकर समूह में रहना है, इस लिये जीवनोपयोगी सामग्री का संग्रह भी व्यक्तिको नहीं करना चाहिए, परन्तु समूह को करना चाहिए। जीवनोपयोगी सामग्रीका संग्रह समूह को करना है व्यक्तिको नहीं करना, अतः जीवनोपयोगी सामग्री जिसे पृथक् पृथक् व्यक्ति या समूह तैयार करते हैं उसे ग्रहण करने के लिये विनिमय के माध्यम मुद्रा को बीचमें से हटा देना पडेगा, क्योंकि मुद्रा निर्माण में किये गये श्रमसे, मुद्रामें वस्तुओं के विनिमय की शक्ति विद्यमान नहीं है, परन्तु मुद्रा में

बलात्कार से कल्पित शक्ति निहित की गई है।

इसकारण मुद्रा को विनिमय का माध्यम हटा देना पडेगा। मुद्रा के स्थान में अन्य किसी वस्तुको भी विनिमय-का माध्यम नहीं बनाया जासकता, कारण सर्वत्र यही है कि किसी भी वस्तुके प्रति किया गया श्रम अन्यों के प्रति किये गये श्रम को प्रतितुलित नहीं कर सकता इसलिये द्रव्य का विनिमय तो रहेगा, परन्तु उस विनिमय से कोई भी व्यक्ति वा समूह अपनी व्यक्तिगत शक्ति बढाकर दूसरे के श्रम को अपने अधिकृत न कर सकेगा। वस्तुओं के निर्माण में श्रमों का वा श्रम जनित वस्तुओंका योग अथवा वियोग होगा, श्रमोंका वा श्रम जनित वस्तुओंका क्रय वा विक्रय बन्द करना पडेगा। एक छप्पर को उठाने के लिये अनेक व्यक्तियोंके श्रमों का योग होता है तो वह छप्पर आसानी से उठ जाता है, और कार्य सिद्ध हो जाता है। एक भवन निर्माण करने के लिये अनेक श्रमों का भी योग होता है, और श्रम जनित वस्तुओं का भी योग होता है, श्रमों के और श्रमजनित वस्तुओंके योग से हमारे जीवन निर्वाह की सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुएं हमें उपलब्ध होती हैं, इसलिये द्रव्योंके क्रय-विक्रय करने की प्रक्रिया की उलझन में पडना निरर्थक और हेय ठहरता है।

शरीरके अन्दर के और बाहर के सभी अङ्ग अपनी अपनी योग्यता के अनुसार शरीर के लिये कार्य करते हैं। अपने अपने लिये कार्य नहीं करते। सबको अपनी अपनी योग्यता के अनुसार शरीरके लिये कार्य में लगाने वाला शरीर का मालिक आत्मा यथायोग्य रीतिसे सबको कार्य में लगा रहा है। इसी प्रकार राष्ट्रिय आत्मा का वा मानव समष्टि और उससे भी ऊपर प्राणि समष्टि वा भूतसमष्टि का आत्मा अपने अन्दर विद्यमान एक एक व्यक्ति को उसके गुणधर्मों में चला रहा है और सबको समष्टि में बांधे हुए है, उस समष्टिआत्मा का नाम परमात्मा (कृष्ण) है। प्रत्येक व्यक्ति अपने सत् कर्म के द्वारा कृष्ण की उपासना कर रहा है और अपने दुष्कर्म के द्वारा सामाजिक उत्कर्षमें विघ्नबाधा उपस्थित कर रहा है, इसलिये हम किसीभी कार्य को करने के लिये स्वतन्त्र नहीं हैं, प्रत्युत समष्टि आत्मा के उत्कर्ष की दृष्टि से कार्य करने के लिये हम बंधे हुए हैं। गीता के अन्दर इस विषय को भले प्रकार समझाया है आगे इस विषय को स्पष्ट किया जायगा और बताया जायगा कि आदर्श राष्ट्र व्यवस्था का स्वरूप क्या है।

पीछे हम बतला चुके हैं कि क्रय-विक्रय का माध्यम किसी भी वस्तु को नहीं बनाया जा सकता और न किसी प्रकार की मुद्रा को बनाया जा सकता है। किसी माध्यम के द्वारा समाज के संचालन कार्यों की वा उन्हें जोडने की रीति समाज के व्यक्तियोंको उत्कृष्ट गुणोंवाला बनानेमें समर्थ नहीं है, प्रत्युत अपकृष्ट गुणोंवाला बनाकर समाज को अधःपतन की ओर ले जाती है। वर्तमान अर्थशास्त्र ने विनिमय के असत्य सिद्धान्त को आधार माना हुआ है और संसार को अशान्त बना दिया है इसको छोडदेनेकी आवश्यकता है। इसको बिना छोडे कभी भी सामाजिक जीवन सुखी नहीं होसकता, और व्यक्ति को भी कभी सुख शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अब हम इस विषयको सामने रखते हैं कि होना किसप्रकार चाहिए।

एक परिवार की ओर दृष्टि डालिये। यह ऐसा परिवार है, जिसमें सभी व्यक्ति अपनी अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करते हैं. परिवार के व्यक्तियों की सभी आवश्यकतायें परिवार के अङ्गभूत व्यक्तियों से ही पूर्ण हो जाती हैं किसी अन्य के पास जाना नहीं पडता। प्रत्येक व्यक्ति परिवार के लोगों की आवश्यकताओंको पूर्ण करने के लिये किसी हुनरमें निपुण है। एक एक हुनर में निपुण अनेक व्यक्तियों के परिवारों के योगसे उस बडे परिवार की योजना हुई है, यही संयुक्त परिवार पद्धति है। इसी का नाम कुल है। कुल की भावना से बद्ध हुए वा अपने अपने कर्तव्य कर्मों को करने में तत्पर हुए व्यक्ति जो जो वस्तु अपने श्रमसे उत्पन्न करते हैं उस सबको परिवार के वस्तु आगार (भण्डार वा स्टोर) में उपस्थित करते हैं वहां से व्यवस्थाके अनुसार वे वस्तुएं परिवार के व्यक्तियों में वितरित होती रहती हैं इस प्रकार एक कुल के व्यक्ति एक भोजन शाला में भोजन करते हैं. कोई व्यक्ति अपने श्रम के लिये श्रम के फलकी चाह नहीं रखता, एक का श्रम अधिक और दूसरे का कम इसकी भावना उनमें नहीं होती। कुल की भावनासे सब काम करते हैं और

सबके काम सिद्ध होते हैं, कुल का वैद्य सबके स्वास्थ्यकी चिन्ता करता है, कुल का अन्नपति सबके भोजन-पान की व्यवस्था करता है, कुल का शिक्षक सबको शिक्षित करने का प्रयत्न करता है। कुल का पुरोहित सबके विवाह की और सन्तानों के पालनपोषण की यथा योग्य व्यवस्था करता है। कुलके अङ्गहीन और अतिवृद्ध मनुष्यों की भी दया और सेवाभावसे यथेष्ट सहायता होती है, किसी की कुछ भी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होती। लडके और लडकियांभी व्यक्ति की न होकर कुल की होती हैं।

इसप्रकार पूर्वोक्त दृष्टान्तसे समझा जा सकता है कि राष्ट्र का संचालन भी एक बडे कुल के ढंग से होता है, राष्ट्र भी एक बडा कुल है। इस प्रकार के प्रबन्धमें क्रयविक्रय के माध्यम की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती, राष्ट्र में ज्ञान विज्ञान के प्रसार विभाग में काम करनेवाले लोग देव या ब्राह्मण होते हैं। पालन पोषण सम्बन्धी विभागमें काम करनेवाले लोग पितर वा वैश्य होते हैं। रक्षण विभाग में काम करनेवाले क्षत्रिय, वस्तुओंको इधरसे उधर लेजानेवाले शूद्र होते हैं। राष्ट्रके किसी कार्यका सम्पादन करनेके लिये चारों वर्णों के समन्वय की आवश्यकता रहती है। राष्ट्रिय कार्य की दृष्टि से कोई व्यक्ति ऊंचा वा नीचा नहीं होता। यम नियम सम्बन्धी दश महाव्रतों में अपरिग्रह सबके अन्त में है; क्योंकि यम नियम में यमोंकी प्रधानता है, नियम यमोंके आधीन हैं। अपरिग्रह को हम प्रारंभ में बता चुके हैं। शेष चारों यम अपरिग्रह के साधन हैं।

राष्ट्र के जिन संचालन सूत्रों का थोडासा निर्देश हमने किया है उनका अच्छी तरह से वर्णन गीताशास्त्र में किया है, गीताशास्त्र का आविर्भाव इसीलिये हुआ प्रतीत होता है, श्रीकृष्ण से पूर्व साम्राज्यवादियोंका जोर संसारमें बढ चुका था। प्रजा दुःखी थी। धनी लोगों में आसुरी सम्पत्ति घर कर चुकी थी। श्रीकृष्णने अपने समय के सम्पूर्ण भूमण्डल के साम्राज्यवादी राजाओंके विरुद्ध क्रान्ति की। उत्तरसे दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक अनेक युद्ध किये। राजाओं पर विजय प्राप्त की। भारतवर्ष को साम्राज्यवादियों के चुंगल से छुडानेका भरसक प्रयत्न किया। श्री कृष्णने राजाओं पर विजय प्राप्त करके उनके राज्यको अपने हस्तगत नहीं किया, किन्तु उसी राज्यके किसी उत्तम व्यक्तिको उस राज्य पर प्रतिष्ठित कर दिया। श्री कृष्ण एक महान् राजाओंका निर्माता (Kingmaker) हुआ श्री कृष्णने अपने आचरण से सिद्ध कर दिया था कि वह साम्राज्य लिप्सु नहीं है, किन्तु उसका ध्येय एकमात्र जन-कल्याण है। श्री कृष्ण की प्रभुता और महत्ता की धाक उसके गुणों के कारण संसार के मानव समाज में, क्या राजा और क्या रंक सबके मनमें बैठी थी, श्रीकृष्ण योगेश्वर था, महाविद्वान् था, महाबलशाली था, सर्व कलाओंमें निष्णात था, परम राजनीतिज्ञ था, मनोविज्ञान की गहराई में पहुंचा हुआ था, प्रत्येक की कमजोरी और खूबी को सूक्ष्मता से जानता था, किसी भी घटनाके कारण और परिणामको तुरंत पकडता था, वह मानता और जानता था कि संसार की एक एक घटनामें आदि कारण परमात्माकी इच्छा प्रतिफलित होरही है, वह द्रष्टा था इसीलिये कुछ करता हुआ भी अलिप्त रहने के कारण अकर्ता रहता था, वह समदर्शी था, उसकी दृष्टि में कोई काम क्षुद्र या गौरवान्वित नहीं था। ऐसा महान् क्रान्तिकारी महापुरुष उस समय के संसार में एक ही था। आधुनिक संसार के क्रान्तिकारी लेनिन आदि उसके सामने बहुत छोटे हैं। इन्होंने एक एक देश में क्रान्ति की और उसने समस्त भूमण्डल में क्रान्ति की।

उसकी प्रचण्डता और कार्यप्रणाली और कुशलता को देखकर अनेक राजा और उस समय का नारी समाज उसे अपना रक्षक मानते थे, और उसके आज्ञावशवर्ती थे। कौरवाधिपति धृतराष्ट्र और उसका पुत्र दुर्योधन महाभिमानी था। इसका साम्राज्य छोटा नहीं था। श्रीकृष्णसे डरता हुआ भी अभिमान के कारण उसका वशवर्ती नहीं था, दुर्योधनने हठसे श्रीकृष्णको युद्ध के लिये मजबूर किया। युद्ध हुआ। बचे कुचे साम्राज्यों का भी लय हुआ। कौरव पाण्डवोंके युद्धमें पाण्डवों के पक्ष के राजा युधिष्ठर ने अपने पक्ष का सम्पूर्ण भार श्रीकृष्ण पर डाल-दिया था। इसीलिये कौरव पक्षके सेनापति श्री भीष्मने युद्ध आरम्भ करनेके लिये जब सब से पहले शंख बजाया और उसके साथ अन्य राजाओं ने भी शंख बजा दिया, तब पाण्डव पक्ष के सेनापति भीमने भीष्म के शंख के उत्तरमें

सबसे पहले शंख नहीं बजाया, किन्तु सबसे प्रथम श्रीकृष्ण ने बजाया, फिर अर्जुनने, फिर भीमने, फिर युधिष्ठिरने और फिर नकुल सहदेवने अपने अपने शंख बजाये। इससे स्पष्ट होता है कि पांडवों की ओर से युद्धके प्रमुख श्रीकृष्ण थे।

धृतराष्ट्र अपने साम्राज्यको बचाना चाहता था और चाहता था कि युद्ध न हो तो अच्छा है, धृतराष्ट्रने संजय को तैयार करके दूतरूपसे भेजा कि वह अर्जुन को समझावे कि युद्ध करना बडा पाप है। बडी हानी होगी, कुछ लाभ नहीं होगा, तुम धर्मात्मा हो, धर्मात्माओं को युद्ध करना उचित नहीं है। अर्जुन की समझमें आगया कि युद्ध नहीं करना चाहिए। किनके साथ युद्ध करना है यह देखने के लिये अर्जुनने अपना रथ दोनों ओर की सेनाओं के बीचमें खडा करवाया। अपने सगा सम्बन्धियों को, वृद्धोंको और आचार्योंको देखकर अपनी प्रबल धारणा की कि युद्ध नहीं करना चाहिए, युद्ध करने से कोई लाभ नहीं है। स्वजनको मारकर सुखी होना अनुचित है। क्योंकि यह सब साम्राज्य की लिप्सासे है। अतः अर्जुन श्रीकृष्णको " नहीं लडूंगा " कहकर चुप होकर बैठ गया।

अर्जुन यह नहीं जानता था कि युद्ध के पश्चात् श्रीकृष्ण एक नये प्रकार के राष्ट्र का निर्माण करना चाहते हैं। सम्भव है राजनैतिक रहस्य के कारण श्रीकृष्णने अर्जुन से यह विषय कभी स्पष्ट न किया हो। अर्जुन तो यही समझता था कि युद्धके पश्चात् एक विशाल साम्राज्य की स्थापना होगी। अर्जुन अवश्यही उस समयके साम्राज्यका विरोधी था अतएव नया साम्राज्य वह नहीं चाहता था। यदि नये प्रकार के राष्ट्रकी कल्पना अर्जुन को होती तो वह संजयके बहकाये में नहीं आता, धृतराष्ट्रके द्वारा भेजेहुए दूत संजयसे विचलित बुद्धि हुआ अर्जुन श्रीकृष्णको स्पष्ट कह देता है कि इतने बडे जनसंहारके पश्चात् राज्यको प्राप्त करके क्या लाभ होगा, संसारके भोग लेकरभी हमें कुछ लाभ नहीं होगा। यदि हम जीतेभी रहे तो उस जीने से हमें कुछ सुख नहीं मिलेगा। जैसे साम्राज्य का निर्माण करनेवाले राजा लोग अपनी अपनी स्वार्थ की भावनाओं से दूसरोंके जन और उनका संहार करके संसार के भोगों को भोगते हैं वैसे हमें करना उचित नहीं है। इस प्रकार का जीवन जीना भी हमारे लिये उचित नहीं है। अर्जुन इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, परन्तु वह दूसरों के अनुकरण के लिये अपना उदाहरण सामने रखने की दृष्टि से कह उठता है कि अनुचित कृत्यों द्वारा हमें अपनी भोगलिप्साओं को पूरा नहीं करना है, ऐसी राज्य-लिप्सा और भोगलिप्सा से हमें दूर रहना चाहिए।

राज्य को प्राप्त करके साम्राज्य का विस्तार करने से अर्जुन का मन हट चुका था। वह समझदार व्यक्तियों के सामने आदर्श रखना चाहता था कि बदला लेनेका भाव हमें नहीं रखना चाहिये। मनुष्य अपने आपको अच्छा या बुरा बनाने का आप उत्तरदायी है। इसलिये अर्जुन अपने आपको कलुषित नहीं करना चाहता था।

अर्जुन जैसा विद्वान् और बुद्धिमान् व्यक्ति श्री कृष्ण का मित्र होते हुए भी जब श्री कृष्ण की राजनीति को नहीं जानता था तब अन्य व्यक्तियों की क्या अवस्था होगी यह आसानी से समझा जा सकता है। इसलिये श्रीकृष्ण को आवश्यकता प्रतीत हुई कि दोनों सेनाओं के बीचमें खडा होकर यह विषय स्पष्ट करदे कि आदर्श राष्ट्र कैसा होना चाहिये ? उसकी क्या विशेषतायें हैं ? राष्ट्र के व्यक्तियोंका राष्ट्रके प्रति क्या कर्तव्य है ? व्यक्तियों को व्यक्तिगत स्वातंत्र्य है वा नहीं ? व्यक्तिको आदर्श व्यक्ति बनने के लिये क्या कर्तव्य किस किस प्रकार पालन करना चाहिये ? राष्ट्रमें व्यक्तियों को यथोचित कार्य देने के लिये उनकी पहिचान किस प्रकार करनी चाहिये ? इत्यादि विषय श्री कृष्ण ने अपने आख्यान में स्पष्ट कर दिया है। इसी व्याख्यान का नाम भगवद्गीता है। गीता राष्ट्र विज्ञान शास्त्र है। वेद-व्यास ऋषिने इसका ग्रथन किया है।

गीता के सिद्धान्तों पर राष्ट्रोंका निर्माण हो तो निश्चय ही संसार में सुख शान्तिका प्रसार हो। और संसार की सब समस्याओं का हल होजाय। गीताके अन्दर साम्राज्य निर्माण के लिये कोई स्थान नहीं है। राष्ट्रके सब व्यक्तियों को इस प्रकार रहना पडता है जिस प्रकार वे एक कुटुम्ब में एक घर में रहते हों। राष्ट्र ही उनका कुटुम्ब है ऐसा उन्हें उनकी शिक्षा दीक्षाके समय समझाना पडता है।

राष्ट्की समष्टि-आत्मा ही श्रीकृष्ण का स्वरूप है । उसके लिये अपना मन वचन और कर्म सब कुछ समर्पण करना पड़ता है । समर्पण का मतलब इतना ही है कि अपना विचार, वाणीका प्रयोग और कर्म सब राष्ट्रहित की दृष्टिसे करना । इस प्रकार करने से ही राष्ट्रीय-आत्माके रूपमें विद्यमान श्रीकृष्ण की पूजा और भक्ति होती है । राष्ट्रहित में पूर्णता से संलग्न व्यक्ति श्रीकृष्ण का भक्त और श्रीकृष्ण का प्रिय होता है । श्रीकृष्णकी राष्ट्र-योजना में कोई व्यक्ति द्रव्य का संग्रह करके नहीं रख सकता । किसीको संग्रह करनेकी आवश्यकता भी नहीं होती । श्रीकृष्णने आदेश दिया है कि कर्म करने का ही तुम्हारा अधिकार है । यह पूछने का अधिकार नहीं है कि कर्म करने से तुम्हें क्या मिलेगा । कर्म करने से तुम्हें कुछ मिलेगा इस हेतुसे कर्म मत करो । कर्म के फलको अपने कर्म करने का हेतु मत बनाओ। इससे स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण के राष्ट्र-विज्ञान में विनिमय के माध्यम को स्थान नहीं है । श्रीकृष्णने अपने व्याख्यान में बतलाया है कि राष्ट्रमें सबको समान अधिकार होगा । राष्ट्रमें उंचेसे ऊंचेपद (परागति) पर स्त्री वैश्य और शूद्र अपनी योग्यताके अनुसार पहुंच सकते हैं। पवित्रता सिखानेवाले ब्राह्मण और राष्ट्रिय आत्माका सर्वदा ध्यान रखनेवाले भक्त क्षत्रिय के परागती को पहुंचने के विषय में तो संदेह ही नहीं है । श्रीकृष्णने अपने व्याख्यान में बताया था कि राष्ट्रमें सबको राष्ट्रहित की दृष्टिसे काम करना पड़ेगा। बिना काम के खाली कोई नहीं रह सकता । इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक राष्ट्रजन अपनी योग्यता के अनुसार क्या काम कर सकता है, इसकी नोंध शासक वर्ग के पास रहनी चाहिए। शासक वर्ग उस मनुष्यसे वही काम करावे ।

मनुष्यों में यह चिन्ता खड़ी हो जाना स्वाभाविक है कि उनका निर्वाह कैसे होगा ? श्री कृष्ण ने इस प्रश्नका समाधान किया है। वे कहते हैं तुम्हारा जीवन निर्वाह (योगक्षेम) मैं करूंगा । ऐसा कथन करते हुए श्रीकृष्ण अपने आपको राष्ट्रिय आत्मा वा उसके प्रतिनिधि शासक वर्ग के रूपमें प्रकट करते हैं । श्रीकृष्ण के व्यक्तिरूपको इसलिये नहीं माना जा सकता क्योंकि व्यक्तिरूपसे श्री कृष्ण हमारे पास नहीं हैं । समष्टि-आत्मा के रूपसे वे हर समय हमारे पास हैं । समष्टि आत्मा वा राष्ट्रिय आत्माके रूपमें विद्यमान श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि लोगों को यह नहीं सोचना चाहिये कि उनका जीवन निर्वाह किस प्रकार होगा। मनुष्योंका इतना ही कर्तव्य है कि वे राष्ट्रहित की दृष्टिसे सदा कार्य करें । राष्ट्र के योग्य प्रबन्धसे उनका जीवन निर्वाह होता ही रहेगा । उसकी चिन्ता करने की किसी को आवश्यकता नहीं ।

पहिले बतलाया जा चुका है कि विनिमय का माध्यम किसी भी रूपमें अन्य वस्तुओं के श्रम के साथ तुलना में नहीं आसकता, अतः किसी भी वस्तुको विनिमय का माध्यम नहीं बनाया जासकता है । श्रीकृष्णको भी यह सिद्धान्त मान्य था । यदि मान्य न होता तो वे यह न कहते कि कर्म करने का ही तुम्हें अधिकार है उसके बदले में क्या मिलेगा यह पूछने का अधिकार नहीं है । यदि कर्म के फलके रूप में कोई भी विनिमय का साधन इनकी दृष्टिमें उचित होता तो वे यह कभी नहीं कहते कि कर्म के फलके विषय में पूछने का अधिकार नहीं है । राष्ट्र में विभिन्न कार्यों को करनेवाले व्यक्तियों को (सबको) कुछ न कुछ काम तो करनाही पड़ता है। परन्तु उनके कामों का प्रतिफल उनको कुछ नहीं मिलता। इससे स्पष्ट होता है कि वे विनिमय के माध्यम को नहीं मानते थे ।

विनिमय का माध्यम श्रीकृष्ण की शासन-प्रणालीमें न होने से उस समय से सब लोगों के लिये अपरिग्रह व्रत का पालन करना आवश्यक हो गया। अपरिग्रह व्रत के कारण सर्वत्र शान्ति होगई । जब सब लोगोंको यह निश्चय हो गया कि उन्होंने संग्रह नहीं करना है तब उनके मनमें यह स्वाभाविक प्रश्न उठना सम्भव था कि यदि जीवनोपयोगी सामग्री का संग्रह नहीं किया जायगा तो जीवन निर्वाह किस प्रकार होगा ? श्रीकृष्ण इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि योगक्षेम (जीवन निर्वाह) वे स्वयं करेंगे ।

श्रीकृष्ण का शरीर तो आजकल नहीं है । श्रीकृष्ण हमारा जीवन निर्वाह किस प्रकार करेंगे ? यहां पर हमें मानना पड़ेगा कि राष्ट्रव्यवस्था वही श्रीकृष्ण का स्वरूप है । अतः निश्चय हुआ कि राष्ट्र व्यवस्था के द्वारा हमारा जीवननिर्वाह होगा । राष्ट्र-व्यवस्था से अवश्य जीवन

निर्वाह होगा। इस व्यवस्थामें राष्ट्रके अन्दर स्थान स्थान पर वस्तु भण्डार खोले जावेंगे। वस्तु भण्डारों में से नियत समयपर वस्तुओं का वितरण हुआ करेगा। राष्ट्रकी ओर से स्थापित भोजनशालाओं में शुद्ध भोजन मनुष्यों को मिल सकेगा। अन्न, वस्त्र, रहने के लिये स्थान, आरोग्य के लिये उपचार, मनोरंजन के लिये साधन सामग्री सब राष्ट्र-व्यवस्था से मिल सकेगी।

यदि हम ध्यान से अवलोकन करें तो पता लगेगा कि मनुष्य पांच बातों के लिये द्रव्यसंग्रह करता है, बच्चे पालने के लिये, २ बच्चोंकोशिक्षित करने के लिये, ३ विवाह करने के लिये, ४ वृद्धावस्था के लिये, ५ स्वस्थ होनेके लिये, इनमें स्वस्थ होना सर्वत्र ओतप्रोत होनेसे चार ही प्रधानतः द्रव्य संग्रह के निमित होते हैं। श्रीकृष्ण के सिद्धान्तानुसार विनिमयका माध्यम राष्ट्र में न होनेसे यह आवश्यक है कि पूर्वोक्त चारों विषयों का प्रबन्ध राष्ट्रव्यवस्था के आधीन रहे। इसका यह अर्थ हुआ कि राष्ट्रिय शिशु-गृहों में बच्चों का पालन हो। राष्ट्रिय शिक्षणालयों में बालकोंकी उम्र के अनुसार विविध प्रकार का शिक्षण उन को दिया जाय। इस प्रकार सम्पूर्ण शिक्षण में विद्यार्थी पारङ्गत होसकते हैं। बालकोंका शिक्षण-काल अर्थात् ब्रह्मचर्य काल समाप्त हो जानेपर लडके लडकियों का परस्पर सम्बन्ध अर्थात् विवाह संस्कार भी राष्ट्रिय व्यवस्था से ही होगा। यदि सब लडके लडकियों का जीवनचरित्र उनके शिक्षणालयों में यथायोग्य रहेगा तो योग्य सम्बन्ध कराने में सुविधा होगी, बच्चों के उत्पन्न करने का विषय भी राष्ट्रिय व्यवस्था के आधीन होना चाहिये। राष्ट्रको किस समय किस प्रकार के कितने सन्तानों की अवश्यकता है? उसके अनुसार ही सन्तान उत्पन्न कराये जावें, जैसे एक मकान बनानेवाला इंजनीयर कुम्हारको आज्ञा देता है कि कितनी कितनी ईंटें कच्ची वा पक्की किस किस प्रकार की आवश्यक है। कुम्हार उसकी आज्ञासे वैसी वैसी ईंटें तैयार करके इंजनीयर को दे देता है। जो कार्य के अयोग्य ईंटें हैं वे छूट जाती हैं। इसी प्रकार राष्ट्रके व्यवस्थापकों को पता रखना चाहिए की किस किस कार्यके लिये किस प्रकार के योग्य व्यक्तियों की आवश्यकता है। उसी प्रकार के उतने ही योग्य व्यक्ति तैयार किये जांय। इस प्रकार करने से भोक्ता और भोग्यमें समतुलन रहेगा, और प्रजामें शान्ति और सुख विद्यमान रहेगा। छूटसे सन्तानोत्पत्ति करनेसे भोक्ता और भोग्यमें समतुलन टूट जायगा। और उसके परिणाम में फिर अव्यवस्था और संग्रह-वृत्ति आरंभ हो जावेगी। साम्राज्यवाद का आधारभूत कारण कामातुरता, भोग लिप्सा है। श्रीकृष्ण के सिद्धान्तमें राष्ट्र-निर्माण का आधार संयमी जीवन, त्याग और तपस्या है। उत्तम और यथेष्ट सन्तान उत्पन्न करने की विद्या छात्रों को उनके शिक्षण काल के अन्तिम वर्षोंमें अवश्य दीजानी चाहिए।

विवाहकाल वा गृहस्थाश्रम समाप्त हो चुकने के बाद निवृत्त मनुष्यों को योग्यतानुसार शिक्षण आदि राष्ट्र के किसी काम में लगे रहना चाहिये। यह उनका वानप्रस्थाश्रम का जीवन है।

मनुष्यों को राष्ट्रिय भावनासे ओतप्रोत रखने, सद्गुण और सद्वर्तन की शिक्षा देने, राष्ट्रभक्ति के द्वारा परमात्मा की ओर प्रेरित करने का उपदेश देनेवाले सन्यासियों की भी देशमें आवश्यकता है। सन्यासियों का काम राष्ट्र को उत्तमसे उत्तम बनाना है। लोगों में से अकर्मण्यता आलस्य प्रमाद आदि दोषों को दूर करना है।

श्रीकृष्ण के सिद्धान्तमें कर्म-संन्यास को स्थान नहीं है, किन्तु कर्मयोग को स्थान है। श्रीकृष्ण ने सिद्धान्त किया है कि स्वार्थमूलक कर्मोंके परित्याग का नाम संन्यास है, आग नहीं जलाने और काम न करने का नाम संन्यास नहीं है। जो मनुष्य कर्म करके उसके बदलेमें कुछ चाहता नहीं है, कर्म किया ही करता है उसको श्रीकृष्णने संन्यासी और योगी कहा है। जो आग नहीं जलाता अर्थात् मांगकर खाता और राष्ट्रहितार्थ कुछ कर्म भी नहीं करता, ऐसे मनुष्य को श्रीकृष्ण संन्यासी वा योगी नहीं कहते। श्रीकृष्ण ने तो राष्ट्र के सब मनुष्यों के लिये निर्देश कर दिया है कि कर्म सबको करना होगा परन्तु कर्म के फल की कोई आकांक्षा नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण अपने सिद्धान्त वा परिभाषाके अनुसार सब मनुष्यों को संन्यासी हो जानेका निर्देश करते हैं। क्योंकि वे सब कुछ छोडछाड कर बैठ जानेका नाम संन्यास नहीं मानते। आदर्श कर्मशील

मनुष्यों को वे संन्यासी मानते हैं। श्रीकृष्ण ने अपने विधान में शिक्षण का काम, रक्षा का काम, पालन पोषण व समृद्धि का काम और परस्पर सहाय करने का काम बतला कर वर्ण व्यवस्था को पूर्णरूपसे स्थान दिया है। मनुष्यों को भिन्न भिन्न कार्यों में नियुक्त करना राष्ट्र व्यवस्था के आधीन होता है। यह नियुक्ति उनके गुण कर्मानुसार होती है विशेष विशेष कार्यको करने के लिये भिन्न भिन्न प्रकारके गुणोंकी आवश्यकता होती है और उसके करने की योग्यता भी होनी चाहिये, जिससे कि अमुक काम ठीक रीतिसे सम्पन्न होसके। यह सब देखना राष्ट्र व्यवस्था का काम है। किसी व्यक्ति में किसी कर्म के अनुकूल गुणोंको जागृत करना और कर्माभ्यास के लिये अवसर देकर कर्म करने में निपुणता लाना राष्ट्रिय व्यवस्था का कार्य है। किसी काम को करने के लिये मनुष्य में वंशानुगत वा पूर्वजन्मसे प्राप्त जो स्वाभाविक अभिरुचि है वह पूर्णतः प्राप्त होनेसे राष्ट्र व्यवस्था उसका निर्माण नहीं करती। अतः राष्ट्र व्यवस्था वर्ण व्यवस्था की कर्त्री भी कहलाती है और वह कर्ता नहीं भी है।

श्रीकृष्ण ने अपने व्याख्यानमें व्यक्तिगत उन्नति को भी महत्व पूर्णस्थान दिया है। कारण यह है कि व्यक्तिगत उन्नति पर ही राष्ट्र की उन्नति निर्भर है। शरीर इन्द्रिय मन प्राण वाक् बुद्धि और आत्मा इन सब को उन्नत करने के जो नियम हैं वे श्रीकृष्णने अपने व्याख्यान में स्पष्ट कर दिये हैं; क्योंकि उत्तम मनुष्यों से उत्तम राष्ट्र का निर्माण होता है। श्रीकृष्ण ने अपने व्याख्यान में स्पष्ट बतलाया है कि किसी मनुष्य को पहिचाना कैसे जाता है, मनुष्यों के आचरणों में व्यवस्था कैसे दी जाती है, उत्तम आहार विहार कैसे होता है।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि उत्तम राष्ट्र-निर्माण का सम्पूर्ण सिद्धान्त श्रीकृष्ण ने बता दिया है, और इसका मूल आधार अपरिग्रह है यह भी स्पष्ट कर दिया है।

उपनिषद्में अश्वपति राजा का वर्णन आता है। अश्वपति राजाने अपने राज्य का वर्णन किया है।

" न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निः नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः। "

यहां बताया गया है कि अश्वपति के राज्यमें कोई चोर नहीं था, कोई शराबी नहीं था, कोई कंजूस नहीं था अर्थात् सब उदार ह्रदय के थे, कोई ऐसा नहीं था जिसने अग्नि का आधान न किया हो, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के अन्दर किसी उन्नततम स्तर को सिद्ध करने के लिये अभीप्सा जागृत थी, कोई भी मनुष्य अविद्वान् नहीं था, कोई व्यभिचारी नहीं था अतः व्यभिचारिणी होने की तो सम्भावना ही नहीं।

अश्वपति के राष्ट्रकी महिमा को जानकर किस राष्ट्रपति के दिलमें ऐसी आकांक्षा न होती होगी कि उसका राष्ट्र भी ऐसा ही आदर्श राष्ट्र बन जाय। जिन जिन दोषों के होनेका अश्वपतिने अपने राष्ट्रमें निषेध किया है उन सब दोषों का मूल कारण संग्रहवृत्ति है। जिस राष्ट्र के मनुष्यों में संग्रह करने की आदत होगी, और संग्रह करने में ही मनुष्य जीवन की सफलता समझते होंगे, वहाँ यह आवश्यक है कि उनमें चोरी की वृत्ति हो क्योंकि चोरी भी संग्रह करने का एक उपाय है। अश्वपतिके राष्ट्रमें कोई चोर नहीं था। इससे स्पष्ट है कि उसके राष्ट्रसंचालन का प्रकार इस प्रकार का था कि किसी मनुष्य में संग्रह करने की वृत्तिका उदय ही नहीं होता था। राष्ट्रमें संग्रहवृत्ति किसी भी मनुष्य में तभी उदय होती है जब उसको यह निश्चय हो कि उसका जीवननिर्वाह बिना संग्रह किये अन्य किसी प्रकार से भी होना संभव नहीं है। परन्तु हमने पीछे बतादिया है कि विनिमय का माध्यम राष्ट्रमें से हटाकर वस्तुभंडार स्थापन करके उत्तम प्रबन्धके द्वारा संग्रह वृत्तिको बिलकुल रोका जासकता है। उस अवस्था में वैसा राष्ट्र अवश्य बन सकता है जिसके लिये अश्वपति को गर्व था कि उसके राष्ट्रमें एक भी चोर नहीं है। अर्थात् उसका राष्ट्र आदर्श राष्ट्र है। इस प्रकार विचार करते हुए स्पष्ट कहा जा सकता है कि अश्वपतिके राज्यमें वस्तुओंके विनिमय का माध्यम नहीं था।

इस प्रकार इतिहास की साक्षीसे भी अपरिग्रह की संभावना और सत्यता सिद्ध होती है। श्रीकृष्ण दोनों सेनाओंके बीचमें व्याख्यान देते हुए अपरिग्रह के आधार पर राष्ट्रकी व्यवस्था समझाते हुए उन्होंने इस बातको स्वीकार किया है कि राष्ट्रमें कोई भी व्यवस्था सर्वदा नहीं

रहती। राज्य व्यवस्थाएं चक्रवत् बदला करती हैं। जिस व्यवस्थाको श्रीकृष्ण उस समय कायम करना चाहते थे वह व्यवस्था भी कई वार संसार में आई और गई। श्रीकृष्ण ने इस व्यवस्था का नाम साम्ययोग रखा है। क्योंकि इस व्यवस्थामें समता मुख्य वस्तु है। धनी गरीब, पूंजीपति और निर्धन, मिल मालिक और मजदूर आदि का किसी प्रकार का कलह नहीं है। राष्ट्रहित की दृष्टिसे सबने अपनी अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार काम करना है और राष्ट्र व्यवस्था की ओर से सबका जीवन-निर्वाह होना है। राष्ट्रकी दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं। इसी कारण उसका नाम साम्ययोग है।

इस साम्ययोग का आविर्भाव सबसे प्रथम विवस्वान् अर्थात् सूर्य राजा में हुआ। सूर्यने मनु राजाको इसका उपदेश दिया। मनु राजाने इक्ष्वाकु को उपदेश दिया। इस प्रकारसे राष्ट्रकी यह पूर्वोक्त व्यवस्था उत्थान पतन के क्रमसे राजर्षियोंमें चली आरही है। दीर्घकाल के पश्चात् वह साम्ययोग (राष्ट्र व्यवस्था) नष्ट हो चुका है। उसी योगका उपदेश श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीचमें अर्जुन को किया है। क्योंकि अर्जुन श्रीकृष्ण का भक्त था और मित्रभी था। यह योग बडे रहस्य का विषय है। इसलिये हर एक स्वार्थी व्यक्ति इसको न समझ सकता है और न इसका पालन कर सकता है। अब हम कुछ लौकिक वैदिक शब्दोंपर विचार करते हैं। जिससे हमारे विषय पर प्रकाश पडेगा।

धन शब्द, जिसका हम प्रायः अपने व्यवहार में प्रयोग करते हैं। पाणिनी मुनिने उसका अर्थ हमें धान्य बतलाया है।

वसु का अर्थ है— संसार में बसने के लिये हेतु भूत सामग्री। जिसमें स्थान, आच्छादन और भोजन आदि का अन्तरभाव है।

रिक्थ वा ऋक्थ— उस सम्पूर्ण सम्पत्ति को कहते हैं जो अपने पास नहीं रहती, अवश्य ही अपने से अलग हो जाती है।

रयी उस सब सम्पत्ति को कहते हैं जो कुदरतने हमारे लिये उत्पन्न की है। जिसे प्राप्त करके हम नानाविध वस्तुएं तैयार कर लेते हैं। वेदमें कहा है— " रयीणां पतयः स्याम " हम निसर्गजात वस्तुओं के उत्पादक, वर्धक, रक्षक और उपभोक्ता रहें। वेद में लिखा है। 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' किसीके धनका लालच मत कर। यहां पर 'धन' शब्द किसी भी वस्तुके लिये सामान्य है जो किसी के भी अधिकार में हो। इस प्रकार धन वाची सभी शब्दों पर विचार करनेसे किसी शब्द का अर्थ 'विनिमय का मध्यम' ऐसा नहीं है। इसके अतिरिक्त वेद का आदेश है—

समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः समाने योक्त्रे
सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥

तुम्हारा पानी पीनेका स्थान बिना भेदभावके एक हो। तुम्हारा अन्न-सेवन बिना भेदभाव के एक साथ हो। तुम को एक बन्धनमें (समष्टि आत्मा वा राष्ट्र हित के लिये काम करनेके बन्धनमें) एक साथ जोडता हू। अच्छे प्रकार समष्टि आत्माका ज्ञान और कर्म में उत्साह देनेवाले राष्ट्रके नेता की आवाज को सुनो और भक्ति भावसे उसके निर्दिष्ट काम को करो. पहियेमें जैसे नाभिके चारों और अरे लगे होते हैं इस प्रकार राष्ट्रीय आत्मासे निर्दिष्ट व्यवस्था में तुम सब व्यक्ति लगे रहो, व्यक्ति व्यक्तिके स्वार्थमूलक कार्यों को छोडकर एकत्व मूलक कार्यों को करो. श्रीकृष्ण ने युद्ध के समय अपने दिये हुए व्याख्यानमें गीता के अनुसार वेदकी पूर्वोक्त आज्ञाका सुन्दर शब्दोंमें निर्देश कर दिया है। श्री कृष्णने व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य को मनुष्यों से हटाकर अपने आधीन कर दिया है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को लक्ष्य करके मनुष्य मात्र को आदेश दिया है कि जो कुछ तुम करते हो, जो कुछ तुम खाते पीते हो, जो कुछ तुम हवन करते वा लेन देन करते हो, जो कछ तुम दे डालते हो, जो तुम तप करते वा कष्ट सहन करते हो उस सब को समष्टि आत्माके वा राष्ट्र व्यवस्था के अर्पण कर दो। इससे स्पष्ट है कि श्री कृष्ण की राष्ट्र व्यवस्थामें व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य नहीं है। वेदका भी ऐसा ही निर्देश प्रतीत होता है।

वेदके अन्दर सामूहिक प्रार्थनाओं की भरमार है:—

१ धियो यो नः प्रचोदयात्।

जो हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग में प्रेरित करे

२ अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्।

हे ज्ञानमय प्रकाश और उत्साह के देनेवाले अग्ने! हमको नैसर्गिक सम्पत्ति के लिये सुन्दर रास्तेसे ले चल.

३ युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः।

हमसे कुटिलता और पापको मार भगा.

४ शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।

हमारे दो पाये और चौपायों के लिये शान्ति हो।

जहां पर वेदमें व्यक्तिगत प्रार्थनायें हैं वे अपने आपको गुणों में समर्थ बनाकर सामूहिक हितमें जुट जाने के लिये हैं। जैसे—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमासि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि।
ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरासि मन्युं मयि धेहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि।

इस प्रकार हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि दूसरों की अपेक्षा किये बिना सामूहिक लाभ में से व्यक्तिगत लाभ को जुदा करके केवल अपने उपभोग का अधिकार बताने की बात वेदादि सत्यशास्त्रों में नहीं है। हम सब ने मिलकर सामूहिक जीवन जीना है। व्यक्तिगत जीवन की उन्नति सामूहिक जीवनकी उन्नति के लिये है। उसको छोडकर नहीं। एक मनुष्य अपने मकानको खूब साफ सुन्दर रक्खे परन्तु उसके चारों ओर गन्दगी पडी रहती हो तो उस साफ सुन्दर मकानमें रहनेवाले का स्वास्थ्य पूर्ण रीतिसे ठीक नहीं रह सकता; क्योंकि उसके चारों ओर गन्दी हवा रहती है। पूर्ण स्वस्थ रहने के लिये उसे स्वयंभी स्वास्थ्य के नियमोंका पालन करना होगा और दूसरों को भी स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करने वाला बनना होगा। अपना स्वार्थ सबके स्वार्थों के साथ सम्मिलित है। अन्यों के स्वार्थों को छोडकर अपने स्वार्थ की कुछ भी स्थिति नहीं है। इससे स्पष्ट परिणाम निकलता है कि व्यक्तिगत स्वार्थका भाव छोड देना चाहिए और केवल समष्टि की उन्नति को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए।

इसी प्रकार करनेसे मनुष्य अपरिग्रह धर्म का ठीक पालन करेंगे और संग्रह करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहेगी। अपरिग्रह—राज्यकी विशेषतायें—

१. अपरिग्रह राज्यही सुराज्य है।

२. इस राज्यमें कोई व्यक्ति मिथ्याभाषी, चोर, दुराचारी कपटी नहीं रह सकता।

३. सब लोग परस्पर प्रीतिके साथ एक दूसरे के हित-चिन्तक होकर रहते हैं।

४. कार्यकी दृष्टिसे कोई छोटा बडा नहीं होता।

५. सब सब काम करना पसन्द करते हैं। किसी कार्य के करने में किसीको घृणा नहीं होती।

६. सब मनुष्य शिक्षित होते हैं।

७. अधिक से अधिक शिक्षित होने के लिये सबको अवसर प्राप्त रहता है।

८. इस राज्यमें सबको शुद्ध अन्न पान मिल सके, रहने को मकान मिल सके, सबका मनोरंजन हो सके ऐसा प्रबन्ध रहता है।

९. रोगियोंको उत्तम से उत्तम चिकित्सा प्राप्त होती है।

१० मनुष्य संयमी जीवन जीते हैं।

११. दुर्बल, कायर कोई व्यक्ति नहीं होता। सब वीर होते हैं।

१२. अपरिग्रह राज्यमें बैंक नहीं होते। सट्टा नहीं चल सकता।

१३. कोई आदमी बेकार नहीं रह सकता।

१४. अपरिग्रह राज्यमें कोई मनुष्य भीख नहीं मांग सकता।

१५. अपरिग्रह राज्य में सच्चरित्रताके कारण न्यायालयोंकी विशेष आवश्यकता नहीं रहती।

१६. उत्पादक श्रम अत्यधिक बढ जाता है। सब वस्तुएं छूटसे परन्तु व्यवस्थाके अनुसार मिल सकतीं हैं।

१७. गोधन तथा पशुधनकी अत्यधिक वृद्धि होती है।

१८ यातायातके साधन तथा उत्तमसे उत्तम सडकें तैयार रहती हैं।

१९ जो यन्त्र मनुष्यके व्यक्तिगत श्रम में बाधक हों वे प्रयुक्त नहीं हो सकते।

२० व्यक्तिगत श्रमके सहायभूत यन्त्र ही प्रयोग में लाये जाते हैं।

२१ शिशुपालन, शिक्षण, विवाह, वार्धक्य ' निरोगिता का प्रबन्ध सब राष्ट्रके द्वारा होता है।

२२ आपस में लेन देन के लिये बाजारों की जरूरत नहीं रहती।

२३ ग्रामीण और नागरिक दो प्रकारका जीवन नहीं रहता।

२४ जीवन का स्तर उन्नत और आध्यात्मिक हो जाता है।

२५ मनुष्योंका अधिकसे अधिक समय जीवनोपयोगी वस्तुओंके उत्पादनमें, प्राकृतिक तथ्योंके अन्वेषणमें और आत्मिक सत्यताओंकी प्राप्ति की सफलतामें बीतता है।

२६ मनुष्यका प्रत्येक प्रकार का जीवन नानाविध शिल्प और कला से सु अलंकृत हो जाता है।

२७ जीवनमें अशान्ति मिटकर शान्ति उत्पन्न होती है।

२८ नाना प्रकारका मिथ्या जाति भेद मिट जाता है।

२९ सब मनुष्य एक विशाल कुटुम्बके सम्बन्धी होजाते हैं।

३० किसी प्रकारका शुल्क और वेतन नहीं रहता।

३१ निश्चिन्त होकर मनुष्य उद्योग करते हैं॥

ऐसा उत्तम राज्य-व्यवहार चलाने के लिये सबसे अधिक और प्रथम आवश्यक बात यह है कि व्यवहार में से सब प्रकार के सिक्के का चलन बन्द किया जाय - ऐसा करनेसे अपरिग्रह-राज्य हमें स्वतः प्राप्त होगा।

पुरुष-सूक्त

(ऋग्वेद मं. १०, सूक्त ९० का हिन्दी रूपान्तर]

अनुवादक- श्री. पाण्डेय कपिलदेव नारायण सिंह

(ऋषि–नारायणः देवता–पुरुषः छन्दस्–अनुष्टुप्)

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥
वह पुरुष जिसे सिर हैं असंख्य, हैं बहुत पैर, आँखे अनेक ।
पृथ्वी परित. ढँकने पर जिसकी अंगुलियाँ बाहर दसेक ॥ १ ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥
वह पुरुष रूप है जो कुछ है, जो कुछ था, जो होनेवाला ।
वह अमृतत्वका स्वामी है, वह है भोजन देनेवाला ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥
यह सब कुछ उसकी महिमा है, है पुरुष यदपि अतिशय महान ।
यह सकल विश्व है चतुर्थांश, है तीन स्वर्गमें विद्यमान ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष. पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥
है ऊपर उसका तीन भाग, है यहाँ एक ही भाग अभी ।
उससे आच्छादित सब कुछ है, आच्छादित चेतन, जड तक भी ॥ ४ ॥

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥
उससे विराटने जन्म लिया, है उस विराटसे पुरुष बडा ।
वह तो विराट के जन्मकाल से हुआ विश्वसे बडा-- चढा ॥ ५ ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्म शरद्धविः ॥ ६ ॥
जब मान पुरुष को हवि, देवों ने था सुयज्ञ सम्पन्न किया ।
इंधन था ग्रीष्म, शरद था हवि, था ऋतु वसन्त घृत बना हुआ ॥ ६ ॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुष जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥
पहले उस जन्मे हुए पुरुषको दर्भ घास पर नहलाया ।
उससे देवों, साध्यों, ऋषियोंने यज्ञकार्य सम्पन्न किया ॥ ७ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशून्तांश्चक्रे वायव्या नारण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥

उस यज्ञ सर्वहुत से दधिमिश्रित घृतका आविर्भाव हुआ ।
पालतू वन्य पशु, पक्षीका उससे ही प्रादुर्भाव हुआ ॥ ८ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

उस यज्ञ सर्वहुत से ही तो निकला ऋक् एवं सामवेद ।
उससे ही प्रकट हुआ अथर्व, उससे ही निकला यजुर्वेद ॥ ९ ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय ॥ १० ॥

उससे ही घोडे प्रकट हुए, दाँतो के दोनों जबडोंसे—
सब पशु जन्मे गौएँ आईं, सब झुंड बकरियों भेडों के ॥ १० ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥

पशु मान पुरुषको देवोंने क्या उपादान अपनाया था ?
मुख क्या था ? बाहु बना किससे था, किससे चरण बनाया था ? ॥ ११ ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

इसका मुख था ब्राह्मण, औ क्षत्रिय से बाहू उद्भूत हुआ ।
वैश्योंसे बना नितम्ब, और पैरों से शूद्र प्रसूत हुआ ॥ १२ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥

चन्द्रमा मनस्से और चक्षुसे, और चक्षुसे रविका प्रकटीकरण हुआ ।
मुखसे तो निकले इन्द्र अग्नि, श्वासोंसे वायु--प्रसरण हुआ ॥ १३ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथालोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥

नाभीसे नभ निकला, था सिरके चारो ओर स्वर्ग फैला ।
चरणोंसे भूमि, कर्णसे मे दिक्, सब कुछ था अंगोंसे निकला ॥ १४ ॥

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

थीं सात परिधियां इसकी एवं थीं इक्कीस इसे समिधा ।
वह यज्ञ समय में पशु समान देवों से पुरुष गया बाँधा ॥ १५ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

यों पशुबलि हुई पुरुषकी ये थे नियम, लोक जिनपर आश्रित ।
करके यह मानस—यज्ञ, देव, साध्योंके पास हुए प्रस्थित ॥ १६ ॥

उत्तीर्ण परीक्षार्थियोंका अभिनन्दन

प्रारम्भिणी, प्रवेशिका, परिचय तथा विशारद परीक्षाओंमें अच्छे अङ्क प्राप्त करके उत्तीर्ण होनेवाले परीक्षार्थियों को संस्कृत भाषा प्रचार समितिकी ओरसे (स्वाध्यायमण्डल द्वारा प्रकाशित) पुस्तकोंके रूपमें पारितोषिक देना निश्चित हुआ है। यह पारितोषिक उन परिक्षार्थियों को प्राप्त होगा जो अपने केन्द्र में सर्व प्रथम रहे हैं। प्रमाणपत्रोंके साथ ही पुरस्कार की पुस्तकें भी केन्द्रव्यवस्थापकों के पास भेज दी जाएँगी। प्रमाण पत्र वितरणोत्सव के समय केन्द्र व्यवस्थापक महानुभाव समितिकी ओरसे इनका वितरण करेंगे।

पुरस्कृत परीक्षार्थियोंके नाम एवं केन्द्र

	प्रारम्भिणी	प्रवेशिका	परिचय	विशारद
१ विजापुर	श्री. तुळजाराम हाटकर	श्री शंकर गौड पाटील	श्री. खासगत गोलसंगि	श्री रेवण सि. यंकन्चि
२ काविठा	,, त्रीभोवनदास उपाध्याय			
३ कंडाच	,, महेन्द्रकुमार जोशी	,, शांतिलाल जोशी	,, भानुप्रसाद जोशी	
४ चिखोदरा	,, रतिलाल पटेल	,, प्रफुलभाई पटेल		
५ वडनगर	,, शामळ वणकर	,, कान्तिलाल रामी		,, भालचन्द्र ठक्कर
६ महेमदाबाद	,, कु. कलावती परीख	,, मृदुला शाह		,, भोगीलाल उपाध्याय
७ लांघनज	,, सेंधाभाई पटेल	,, जोईताभाई पटेल	,, नारणभाई पटेल	
८ मोमिनाबाद	,, दिगंबर लोणीकर	,, मारुती जोशी	,, माधव के. कुर्डूकर	
९ मंडाला	,, रानजीभाई लल्लुभाई	,, भोगीलाल पटेल	,, जयशंकर पंड्या	
१० बडोदा	,, कु दमयंती देवता	,, अरविंद खिरे	,, प्रभाशंकर देवता	,, रविशंकर व्यास
१० (अ) बडोदा	,, नटवरलाल उत्तरवाला	,, विष्णुदास विद्यार्थी	,, दर्यानो ठर्याणी	
	,, रजनिकान्त शाह			
११ हाँसोट	,, जयानंद देसाई	,, कनैयालाल शेठ	,, भगीरथ सोनी	
१२ आणंद	,, चंदुभाई पटेल	,, रमेशचंद्र मणिलालभाई	,, विठ्ठलभाई पटेल	
	,, ईश्वरभाई वालंद	,, जयंतकुमार त्रिवेदी	,, डाह्याभाई पचाल	
१३ चकलाशी	,, अरविंदभाई पटेल	,, विनोदचंद्र पटेल	,, हर्षदभाई पटेल	
			,, अंबालाल दलवाडी	
१४ शिवपुरी	,, शिवनारायण शर्मा	,, नाथूलाल गुप्त		
१५ कपडवंज	,, इस्माइल गाधकडावाला	,, विनोदलक्ष्मी त्रिवेदी	,, पद्मकान्त त्रिवेदी	,, ज्योतिर्बाला त्रिवेदी
१६ साकुरी			,, कु. सुलोचना	,, कु. सुमति बलसावर
१७ बिरसिंहपूर	,, बाबूराव	,, जगदीशप्रसाद त्रिपाठी		
१८ वल्लभविद्यानगर	,, भाईलालभाई पटेल	,, नटवरभाई पटेल	,, मोहनलाल दवे	
१९ मंडलेश्वर	,, सदाशिव पानेकर			
२० धोलका	,, हिरालाल ठक्कर		,, चंद्रकान्तभाई	

२१	सैजपूर	श्री. अरविन्दभाई पटेल	,, चुनाभाई पटेल	,, भानुप्रसाद व्यास ,, कान्तिलाल पटेल	,, शान्तिभाई झवेरभाई
२२	सूरत	,, सुरेशचन्द्र ठा. दलाल	,, प्रमोदचंद्र गुडलक	., नवीनचंद्र त्रिवेदी	
२३	बामणोद	,, रामदास चौधरी	,, दगडू झांबरे	,, मंगू काकडे	
२४	अष्टि	,, पद्मावती सागडे			
२५	चांदोद	,, हसमुखलाल वैद्यराज	,, जशवंतराम उपाध्याय	,, लाभशंकर पंड्या	,, रविदत्त जोशी
२६	नंदुरबार	,, दादाभाई गिरासे	,, ईस्माइल पठाण	,, भास्कर जोशी	
२७	केडिला	,, के. ईश्वर भट्ट	,, के. गोविंद जोयिस ,, लक्ष्मीदेवी भट्ट	,, तालतज्जे कृष्ण	
२८	अमदाबाद	,, कान्तिलाल शाह	,. भानुप्रसाद निर्मल	,, इन्दुमति विद्वांस	
२९	व्यारा	,, कु. चन्द्रिका शाह	,, शंकरराव निमकर	,, शांतिलाल भावसार	
३०	डेरोल	,, केशवभाई पटेल	,, वखतसिंह सोलंकी	,, नगीनभाई पटेल	
३१	बीड	,, गोविन्द गंगथडे			
३२	बलसाड	,, पुरुषोत्तमदास पटेल	,, रमेशचंद्र कोठारी	,, जगुभाई पटेल	,, ईश्वरलाल नायक
३३	गुना	,, नरोत्तमकुमार श्रीमाल	,, ओम्कारलाल शर्मा		,, ओम्कारलाल शर्मा
३४	कळंब	,, माणेकराव जोशी			
३५	सोनगढ	,, हठिसिंह सखैया	,, जगजीवन वाजा	,, नरेन्द्रदेव पाठक	,, करणसिंह गोहील
३६	परळीवैजनाथ	,, रामराव नागरगोजे			
३७	सामरखा	,, महेन्द्रभाई पटेल	,, विलीयम परमार		,, कान्तिलाल उपाध्याय
३८	पटोदा	,, वसंत देशमुख			
३९	गढडा	,, प्रभाशंकर जोशी	,, दलपतराम त्रिवेदी	,, भूपतराय व्यास	,, गोविन्द वकील
४०	कुंभकोणम	,, आर. रंगराजन	,, पि. जे. पिचै		,, एम. वेंकटराम शास्त्री
४१	साधिएर	,, कान्तिलाल भट्ट	,, अंबालाल भट्ट	,, प्रभाकर शुक्ल	
४२	गोधरा	,, जगदीशचंद्र दवे		,, बसतलाल पटेल	
४३	भरुच	,, भास्कर ठक्कर	,, मोहनभाई पटेल		
४४	वालोड		,, कु. सविता उपाध्याय		
४५	हैद्राबाद	,, कु. शारदा गर्दे			
४६	नारगोल	,, छोटुभाइ भंडारी	,, गणु मोरारवारी		
४७	धीनोज	,, छगनलाल पटेल	,, मफतलाल दुबे		
४८	पारडी	,, विनोदचंद्र पांचाल	,, हरिभाई देसाई		
४९	नवसारी	,, डाहीबहेन पटेल	,, सुरेशचंद्र देसाई	,, नटवरलाल मिस्त्री	
५०	गौहाटी	,, शिवनाथ प्रसादसिंह ,, बनवारी शर्मा	,, बैजनाथ तिवारी	,, श्याम सुंदर शर्मा	
५१	भुसावळ	,, सौ. उषा चौधरी			,, विष्णु चौधरी
५२	नडियाद	,, मधुभाई पटेल	,, मनुभाई आ. दलवाडी		
५३	बोरीवली	,, अनंतराव जानी	,, गोपाळराव पाठक		

आगामी परीक्षाओं के लिये

केन्द्र व्यवस्थापक एवं प्रचारक महोदय, -

आपके शिक्षणालयका ग्रीष्मावकास समाप्त होचुका है। संस्कृत भाषा प्रचार समितिकी **आगामी परीक्षायें ता. ६-७ सितंबर १९५२ ई०को** होनी निश्चित हुई हैं। गत अप्रैल परीक्षाओंके प्रमाणपत्र एवं पुरस्कार आपकी सेवामें भेजे जाचुके हैं। अतः आपसे निवेदन है कि इन प्रमाणपत्रों एवं पुरस्कारोंका वितरण आप अपनी सुविधानुसार यथाशीघ्र करनेका प्रबन्ध करे। जो विशेष समारोह करने की स्थितिमें न होवें वे अपने शिक्षणालयमें ही प्रधानाध्यापकजी की अध्यक्षतामें सम्पूर्ण छात्रोंकी उपस्थितिमें यह वितरणोत्सव सम्पन्न कर ले। इससे विद्यार्थियोंमें आगामी परीक्षाओंके लिये उत्साह उत्पन्न होगा और वे संस्कृतभाषाको सीखनेके लिये आगे बढेंगे।

प्रचार सम्बन्धि जो आवश्यक सामग्री हमने आपकी सेवामें भेजी है उसका पूरा पूरा उपयोग आप कीजिये। सूचना पट्ट पर हमारी आवश्यक सूचनायें चिपकवा दीजिये तथा अपने यहाँ के अन्य शिक्षणालयों में भी उन्हे व्यवस्थित रूपसे भिजवा दीजिये। प्रत्येक संस्कृत - अध्यापक एवं संस्कृतप्रेमी विद्यार्थी तक ये सूचनायें अवश्य पहुँचनी चाहिये। जिन स्थानोंपर संस्कृत समितियाँ हैं वहाँ यह समस्तकार्य उन्हीके द्वारा विशेषआयोजनाके साथ होना चाहिये। अपने समस्त कार्य का विवरण केन्द्रीयकार्यालय पारडी एवं अपने यहाँके प्रसिद्ध वृत्तपत्रोंमें प्रकाशनार्थ अवश्य भिजवाना चाहिये।

६-७ सितम्बरकी परीक्षाओंके लिये **ता० १९ जुलै तक** आवेदन पत्र भर कर अपने केन्द्र व्यवस्थापककेपास दे देने चाहिये, जिससे वे यथासमय हमें प्राप्त होसकें।

अपने केन्द्रके लिये लगनेवाली सभी आवश्यक सामग्री एवं आवेदनपत्र आदि यथासमय मंगा लेने चाहिये।

सर्वप्रथम परीक्षार्थी

विशारद



कु. सुमति उमानाथ बलसावर

५-६ अप्रैल सन १९५२ ई. की परीक्षाओंमें सर्वप्रथम आनेवाले परीक्षार्थियोंके नाम प्रकाशित करते हुए हमें अत्यंत आनन्द होता है।

१ प्रारम्भिणी- छोटूभाई लालभाई भण्डारी नारगोल
सुरेशचन्द्र ठाकोरदास दलाल सूरत
२ प्रवेशिका- शंकरराव रामचन्द्र निमकर न्यारा
मनुभाई आशाभाई दलवादी नडियाद
३ परिचय - माधव केशवराव कुडूंकर अंबाजोगाई
४ विशारद - कु० सुमति उमानाथ बलसावर साकुरी

हम सभी परीक्षार्थियोंका इस सफलता के उपलक्ष्यमें अभिनन्दन करते हैं। इन्हें समिति द्वारा विशेष पारितोषिक दिया जाना निश्चित हुआ है, जो केन्द्रव्यवस्थापकोंके द्वारा उन्हें प्राप्त होगा।

पुस्तक परिचय

सत्यामृत (मानवधर्मशास्त्र) दृष्टि काण्ड । प्रणेता-- स्वामी सत्य भक्त मूल्य ५) रु. पृष्ठ संख्या २६० । प्रकाशक- मन्त्री, सत्याश्रम मण्डल, वोरगांव, वर्धा

यह ग्रन्थ छः अध्यायोंमें विभक्त है । नवीन विचारोंकी दृष्टिसे यह ग्रन्थ अत्यन्त मननीय है । सत्यामृतका यह सन्देश है कि ' मनुष्यमें शास्त्रमूढता न होनी चाहिये । सब से बडा शास्त्र यह खुला हुआ संसार है या सबसे बडा शास्त्र विवेक है । ... ... जब सत्यमें और शास्त्रमें विरोध मालूम हो तब सत्यकी वेदीपर शास्त्र का बलिदान करना चाहिये, शास्त्र की वेदी. पर सत्यका बलिदान नहीं । बहुत से लोग अपने प्राचीन शास्त्रों के लेखनके विरुद्ध जब वैज्ञानिक खोजोंको पाते हैं तब वे विज्ञानको ही अधूरा कहकर मजाक उडाते हैं । विज्ञान की विकासशीलताको संशय अनिश्चय आदि कहकर उपेक्षा करते हैं, अथवा झूठी खींचतान करके उस बातको शास्त्रों में से ही निकालने की कुचेष्टा करते हैं, यह शास्त्रकी वेदीपर सत्यका बलिदान है। सत्यामृत इस शास्त्र मूढताका विरोधी है ।

सत्याश्रम वर्धा के अन्य ग्रन्थ

अग्निपरीक्षा- मूल्य ।।।) इसकी प्रस्तावनामें महान विचारक स्वामी सत्यभक्तजी लिखते हैं 'यह कहानी संग्रह तो एक नमूना है। विज्ञानके चमत्कारोंपर सैंकडों कहानियाँ लिखी जा सकती हैं तथा अन्धविश्वासका नाशक और भी बहुत तरह का साहित्य लिखा जा सकता है, लिखा जाना चाहिये और होना चाहिये उसका घर घरमें प्रचार । ' जिस दिन विज्ञान और धर्म की शादी हो जाएगी, भावना और बुद्धिका समन्वय हो जाएगा, धर्म अन्धविश्वासों और रहस्यके पंजोंसे छूट जाएगा वह जीवन का वैज्ञानिक और सांस्कृतिक चिकित्सा बन जाएगा उस दिन इसी भूतलपर स्वर्ग दिखाई देने लगेगा।

मानव भाषा- मूल्य दो रुपये । ' सत्य समाजके चौबीस जीवन सूत्रोंमें एकसूत्र यह भी है कि मनुष्यमात्रकी एक भाषा होनी चाहिए । इसी उद्देश्य की पूर्तिके लिये यह पुस्तक लिखी गई है ।

सूरज प्रश्न- मूल्य ।।≈) ' इस पुस्तकको सत्यामृत का एक परिशिष्ट या पूरक अध्याय कहा जा सकता है । प्रश्नोत्तरके रूपमें यह लिखी गई है । इसके द्वारा कई नई बातों पर प्रकाश डाला गया है ।

पाठकों की सम्मतियाँ

(क्या असुर सम्राट् बलि भी भगवद्भक्त था ! शीर्षक लेख हमने भारतके अनेक विद्वानोंके पास विचारार्थ भेजा है । हम चाहते हैं कि वे उक्त लेखपर अपने विचार व्यक्त करें ऐसे पत्रों, विचारों एवं सम्मतियों को हम ' वैदिक धर्म ' में सहर्ष छापेंगे) उक्त लेखपर आई हुई कुछ सम्मतियाँ--

धर्म भूषण श्रीमान् रणछोडदासजी ' उद्धव ' महीदपूर साहित्यरत्न ' क्या असुर सम्राट् बलि भी भगवद्भक्त था ? इस लेखमें 'कल्याण' मासिक की सच्ची समालोचना हुई है। एक बार पहले भी कल्याणके एक लेखपर आपकी समालोचना पढी थी। यदि ' कल्याण-कार्यालय ' वेद संशोधनके कार्यमें मदत करे तो कितना देशका कल्याण हो ' किन्तु खेद है कि उनका इस ओर लक्ष्य ही नहीं है। आपको स्पष्ट समालोचनाके लिये शतशः धन्यवाद ।

२ श्रीमान् शिवपूजन सिंहजी ' पथिक ' कानपुर

आपका प्रेषित 'क्या असुर सम्राट्बलि भी भगवद्भक्त था ?' शीर्षक लेख मिला । आपका यह लेख अत्यन्त गवेषणात्मक तथा तथ्यपूर्ण है । ' कल्याण ' से जो भ्रम उत्पन्न हो सकता है, आपके लेखसे वह दूर हो जायगा ।

३ समादरणीय श्री स्वामी सत्यभक्तजी वर्धा

' वैदिक धर्म ' में " क्या असुर सम्राट् बलि भी भगवद्भक्त था ? " लेख पढकर बडी प्रसन्नता हुई ।...... पौराणिक बातें किस दृष्टिकोणसे देखनी चाहिए और उनके अर्थ समझनेमें अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनाका विवेक कैसा रखना चाहिए इस पर मैंने जगह जगह लिखा है और कहा है; पर ऐसे लोगोंकी संख्या अभी भी बहुत है जो इनबातोंको अभी भी समझना नहीं चाहते । भक्ति की भी यही दुर्दशा है । यह बीमारी काफी व्यापक है । इसको हटाने की कोशिश करना है । आपका यह लेख इस दृष्टिसे बहुत उपयोगी है ।

वैदिक व्याख्यान माला
पांचवां व्याख्यान

ॐ

व्यक्तिवाद और समाजवाद

अनेक वाद ।

इस समय जगत्में व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद, समाजवाद, राष्ट्रीय समाजवाद, साम्यवाद ऐसे अनेक वाद उपस्थित हुए हैं, और उनके अनुयायियोंने अपने अपने गुट् बनाकर दूसरोंका नाश करनेका प्रयत्न शुरू किया है, इसलिये बडे झगडे और बडी लडाइयां उत्पन्न हुई हैं और ये लडाइयां मानव जातीका संहार करेंगी, ऐसा प्रतीत हो रहा है ।

मम--सत्यं ।

आश्चर्यकी बात यह है कि युद्धके अनेक नामोंमें ' मम सत्यं ' यह एक नाम वैदिक कोश निघण्टुमें दिया है। ठीक यह नाम आजकलके इन युद्धोंके लिये प्रयुक्त किया जा सकता है । ' मम सत्यं ' का अर्थ ऐसा है कि ' जो मैं कहता हूं वही सत्य है, दूसरा जो कहता है वह सत्य नहीं है '। मेरा पक्ष सत्यपक्ष है, दूसरेका पक्ष असत्यका पक्ष है, इसलिये उसका पूर्ण नाश करना चाहिये। ऐसा नाश करना चाहिये कि वह फिर न उठ सके। यह स्पर्धा इन पक्षोंमें आज चल रही है । प्रत्येक वादका पक्ष ' मेरा सत्य ' है ऐसा ही कहता है और दूसरेका नाश करनेके उपाय ढूंढता है । इस कारण जो नाशके उपाय पचास वर्षोंके पूर्व नहीं थे, वे भयंकर विनाशके साधन आज मनुष्योंके पास उपस्थित हुए हैं और वे बढाये भी जा रहे हैं । इस ' मम सत्यं ' का प्रयोग वेदमंत्रमें देखिये-

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र
संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्।
नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥
(ऋ० १०।४२।४; अथर्व० २०।८९।४)

' हे इन्द्र ! लोग (मम सत्येषु) युद्धोंमें खडे होके अपने विजयके लिये तुझे सहायार्थ बुलाते हैं । वह शूर वीर इन्द्र उदार दाताको ही अपना मित्र करता है, परंतु जो यज्ञ करनेवाला नहीं होता, उससे मित्रता करनेकी इच्छा भी नहीं करता । '

इस मंत्रमें ' मम सत्यं ' पद बहुवचनमें है,' युद्धोंमें ' ऐसा उसका अर्थ है। ' जनाः ममसत्येषु संतस्थानाः विह्वयन्ते ' लोग मेरा मत सत्य है ऐसा कहके अपनी अपनी पृथक् पृथक् संघटना करते हैं, अपने अपने अलग अलग गुट बनाते हैं और प्रत्येक पक्ष अपने पक्षके विजयके लिये अपनी सहायताके लिये इन्द्रको बुलाता है । इस मंत्र में ' ममसत्येषु ' पद बहुवचनमें है इसलिये ये युद्ध अनेक हैं यह स्पष्ट है । मेरा पक्ष सत्य है, मेरा मत सत्य है, ऐसा कहनेवाले अनेक पक्ष होंगे, तभी ' ममसत्येषु ' यह बहुवचनी प्रयोग सार्थ होगा । प्रत्येक युद्धके लिये दो पक्षोंका होना अत्यावश्यक है । दो पक्ष उपस्थित न होंगे, तो संघर्षही नहीं होगा । इसलिये प्रत्येक युद्धमें दो पक्ष हैं और' ममसत्येषु ' यह बहुवचनी पद कमसे कम तीन युद्धोंका तो भाव बताता ही है । अर्थात् तीन युद्धोंके लिये छः पक्ष प्रतिपक्ष चाहिये और यह संख्या कमसे कम है ।

इस मंत्रसे स्पष्ट होता है कि ' ममसत्यं ' ' मेरा मत सत्य है ' ऐसा कहनेवाले पक्ष कमसे कम छः तो होने चाहिये और उनमें कमसे कम तीन युद्धके प्रसंग तो उत्पन्न होने चाहिये । ऐसे पक्ष प्रतिपक्ष उत्पन्न होनेपर और उनमें युद्ध छिडनेपर ये लडनेवाले अपना विजय चाहते ही होंगे, ऐसे समयमें लडनेवाले वीर अपने विजयके लिये इन्द्र को बुलाते हैं । बुलाया जानेपर यह शूरवीर इन्द्र किस

पक्षके पास जाता था यह हम इसी मंत्रमें अब देखेंगे---

१ यः हविष्मान् (तं) शूरः युजं कृणुते ।

२ असुन्वता सख्यं न वष्टि ।

(१) जो यज्ञोंमें अन्न आकर उसका यथेच्छ दान करता है, उसके साथ यह शूरवीर मित्रता करता है और उस मित्रकी सहायतार्थ वह सत्वर जाता है। (२) पर जो यज्ञ नहीं करता उसकी सहायता वह नहीं करता और युद्धमें उसकी सहायता करनेके लिये भी नहीं जाता।

यज्ञ करनेवालेकी सहायता

यज्ञका अर्थ है (१) श्रेष्ठ पुरुषोंका सत्कार करना, (२) आपसकी संघटना करना और (३) दीनोंकी सहायता करना। ये त्रिविध कर्म यज्ञके हैं। इन त्रिविध कर्मोंको जो करता है वह मानो यज्ञ करता है। और जो इन त्रिविध कर्मोंको नहीं करता, वह यज्ञ नहीं करता। यज्ञ करनेवालेकी सहायता इन्द्र करता है। 'ममसत्यं' नामक झगडेमें इन्द्र उसकी सहायता करता है कि, जो श्रेष्ठोंका सत्कार, आपसकी संघटना और दीनों की सहायता करता रहता है। इन सर्वजन हितकारी कर्मोंको करनेवालेकी ही सहायता की जाती है। इसलिये ऐसे श्रेष्ठ कर्म करते रहना मनुष्योंके लिये लाभदायी है। यहां युद्धमें किसकी सहायता प्रभु करता है और किसकी नहीं यह स्पष्ट हुआ।

'मेरा मत सत्य है' (मम सत्यं) यह अहंकार वेद से लेकर इस समय तक चला आया है। व्यक्तिवादी, समाजवादी, राष्ट्रीय समाजवादी और साम्यवादीके रूपसे वही 'मम सत्यं' युद्ध शुरू है। आज ये लोग क्या कहते हैं देखिये---

व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद

व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी कहते हैं कि, व्यक्तियोंका समाज तथा राष्ट्र बनता है। प्रत्येक व्यक्ति उन्नत हुई तो सब समाज और सब राष्ट्र उन्नत होता है, इसलिये अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये प्रत्येक व्यक्तिको पूर्ण स्वातंत्र्य मिलना चाहिये। परतंत्र व्यक्ति अपनी उन्नति किस तरह कर सकती है ? मनुष्यकी सब शक्तियोंका पूर्ण विकास होना चाहिये और ये सब विकसित शक्तियां मनुष्यके स्वाधीन रहनी चाहिये, इतना ही नहीं प्रत्युत ये सब विकसित शक्तियां मानवताका प्रकाश करनेमें लगनी चाहिये। मनुष्यको स्वतंत्रता न रही, तो वह शक्तिविकास नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको पूर्ण स्वातंत्र्य मिलना चाहिये।

प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र रीतिसे जन्मती है, स्वतंत्र रीतिसे मरती है। जन्मते समय वह किसीसे पूछती नहीं और न मरनेके समय वह किसीसे पूछती है। स्वतंत्रता पूर्वक आती है और जाती है। प्रत्येकका कर्म उसके साथ रहता है। प्रत्येक जीव व्यक्तिशः तथा स्वभावतः स्वतंत्र है। प्रत्येक की निद्रा और जाग्रति स्वतंत्र होती है, प्रत्येकको भूख और प्यास स्वतंत्र रहती है, रोगी तथा निरोगी अवस्था प्रत्येक की स्वतंत्र है। एकके अन्न भक्षणसे दूसरेका पेट नहीं भर सकता। पुत्र मित्र भाई आदि नातेके संबंध औपचारिक हैं, ये संबंध सत्य मानना यही भ्रम है। जलमें नाना पात्र पडे हैं, उनमेंसे कुछ पात्र एक स्थान पर आगये और मिल गये, तो उनका संबंध एक नातेका नहीं माना जा सकता। अतः प्रत्येक जीव स्वतंत्र है। कौन है किसका मित्र और किसका भाई। यह नातेका संबंध मिथ्या भ्रम है। प्रत्येक व्यक्ति स्वरूपतः विभिन्न है। इसलिये उनकी विभिन्नताका स्वीकार करके ही उन्नतिका विचार करना चाहिये। इसलिये हम व्यक्तिकी पूर्ण स्वतन्त्रता मानते हैं और प्रत्येक व्यक्तिको स्वतंत्र रीतिसे अपनी उन्नति करनेके लिये पूर्ण अधिकार देते हैं।

यह संमति व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादियोंकी है। यह व्यक्तिस्वातंत्र्यवादियोंका 'ममसत्यं' है। अब समाजवादियों की संमति देखिये---

समाजवादियोंकी संमति

समाजवादियोंका 'ममसत्यं' अर्थात् इनकी संमति देखिये। समाजवादी कहते हैं कि जिस समय व्यक्तिकी ज्ञान और कर्मशक्ति बढ जाती है, बुद्धि और प्रबंधशक्ति बढ जाती है, उस समय उसके पास धन आदिका संचय अधिक होता है। वह पूंजीपती बनकर बडे बडे कारखाने निर्माण करता है और अधिक धनका संचय करने लगता है। धनशक्ति ऐसी होती है कि जो लोभ बढाती है और लोभ बढ जानेसे स्वार्थ इतना बढ जाता है कि, उसकी कोई सीमा नहीं रहती। वह धनी व्यक्ति अपने धनके बलसे अनेक उपभोगके साधन अपने अधिकारमें कर लेता है और दूसरेको इन भोगोंसे वंचित रखता है। इसलिये

वर्गकलह निर्माण होता है। धनी और निर्धनके अन्दर द्वेष निर्माण होता है। इसलिये सब धन और कारखानोंका समाजीकरण करना आवश्यक होता है। समाजवाद ही इन दुःखोंको दूर कर सकता है, कोई दूसरा उपाय नहीं है। धनका अथवा किसी भी शक्तिका केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिये। विकेन्द्रीकरण से ही समाज सुखी हो सकता है। व्यक्तिको पूर्ण स्वतंत्र करनेसे ज्ञान, शासन, धन और कर्म-शक्ति आदि शक्तियोंका केन्द्रीकरण अनिवार्य ही है। अतः समाजवादकी दृष्टिसे ही समाजव्यवहार पद्धतिकी निर्मिति होनी चाहिये। व्यक्तिको पूर्ण स्वातंत्र्य देनेसे शक्तिका केन्द्रीकरण अनिवार्य है। वस्तुतः समाज ही मुख्य है। व्यक्ति समाजकी सेवाके लिये रहे, पर वह अधिक स्वतंत्र न हो।

व्यक्तिकी स्वतंत्रता माननेसे संघशक्ति नष्ट होती है। बिखरी हुई व्यक्तियां, अपने स्वातंत्र्यमें मस्त होती हैं और अपनी संघटना नहीं होने देती। संघशक्तिका बडा महत्व है। और यदि संघटनाका बल प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो व्यक्तिके स्वातंत्र्यपर नियमन रखना चाहिये। व्यक्ति कितनी भी समर्थ हुई, तो भी वह समाजके सांघिक बल की बराबरी नहीं कर सकती। इसलिये व्यक्तिको बहुत स्वातंत्र्य देना सर्वथा अयोग्य है।

समाजवादी पक्षका मत यह है कि समाजका हित साधन करनेके लिये व्यक्तिपर नियमन करना अत्यंत आवश्यक है। समाजहित मुख्य है। समाज सुखी हुआ तो व्यक्ति का सुख उसीमें हो जाता है। समाजवादसे सांघिक बल बढता है और समाजका सुख सामुदायिक आयोजनाओंसे बहुत बढाया जा सकता है। इसलिये समाजवादकी पद्धति सेही राज्यशासन होना चाहिये।

राष्ट्रीय समाजवादके तत्त्व भी ऐसे ही हैं। समाजके स्थानपर ये ' राष्ट्र ' बोलते हैं।

साम्यवादका मन्तव्य

साम्यवाद का मुख्य तत्त्व सबकी समता व्यवहारमें लाना है। जैसा सेवक और स्वामी। ये दोनों मनुष्य हैं, दोनोंके लिये मानवी जीवनकी आवश्यकताएं समान रीतिसे चाहिये। सेवक चार पांच रोटियां खाकर उनका पाचन कर सकता है, परंतु स्वामी आधी रोटी भी खा नहीं सकता। परंतु स्वामीका वेतन पांच हजार रुपये मासिक होता है और सेवक के लिये पचास रु. भी मिलना कठिन होता है। यह विषमता ठीक नहीं है। इस विषमताके कारण मानवताका विकास नहीं हो रहा है। इसलिये जहां तक हो सके वहां तक सब मानवोंकी समता व्यवहारमें स्थापन करनी चाहिये।

मनुष्यको रहनेके लिये अच्छा स्थान चाहिये, भोजनके लिये पुष्टिकारक अन्न चाहिये, ओढने और पहननेके लिये ऋतुके अनुसार योग्य वस्त्र चाहिये, योग्य शिक्षण, ज्ञान प्राप्त करनेके साधन सबको मिलने चाहिये, धन न होनेके कारण किसीको ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका, ऐसा नहीं होना चाहिये, रोग होनेपर औषध मिलना चाहिये, योग्य समय में विश्राम मिलना चाहिये, वृद्ध अवस्थामें जो आवश्यकताएं होंगी, उनकी व्यवस्था होनी चाहिये। इस तरह सब को यह सब सहजहीसे मिले ऐसा प्रबंध राज्यशासन द्वारा होना चाहिये। कोई मनुष्य मानवी आवश्यकताओंसे वंचित नहीं रहना चाहिये। मानवकी सब आवश्यकताएं उसको अवश्य मिलनी चाहिये। यह साम्यवादियोंका मत है और इसको प्रत्यक्ष करनेका यत्न वे कर रहे हैं।

इसमें व्यक्तिके लिये पृथक् सत्ता नहीं है। राष्ट्रका एक अवयव यह व्यक्ति है। यह राष्ट्रके लिये जीवित रहती है। इस को राष्ट्र सेवाके कार्य अनिवार्य रूपसे करने ही चाहिये। कोई व्यक्ति पूर्णरूपसे स्वतंत्र नहीं है। राष्ट्रहित करनेके कार्य उत्तम रीतिसे निभानेके लिये व्यक्ति पूर्णतया परतन्त्र है।

इस तरह इन पक्षोंके ये मत हैं और इनके आग्रहके कारण इनके अन्दर बडे वैमनस्य फैल रहे हैं और जगत्में ये एक दूसरेका पूर्ण नाश करनेके लिये कटिबद्ध हुए दीखते हैं। यही इनका ' ममसत्यं ' है। ' मेरा मत ही सत्य है, दूसरेका असत्य है ' ऐसा प्रत्येक कहता है। इसलिये नाना प्रकारके झगडे उत्पन्न होते हैं। ये सब पक्ष वस्तुतः मानवजातिका कल्याण करनेकी इच्छा करते हैं, उनके कार्यक्रममें जनताके कल्याण करनेका कुछ न कुछ कार्यक्रम रहता भी है। परंतु इनमें अपने पक्षका दुराग्रह और दूसरे के पक्ष तिरस्कार रहता है। इसलिये ये दूसरेके मतका विचार नहीं करते और अपना ही आग्रह चलाते हैं। यही मानसिक वृत्ती ' मम-सत्यं ' इस वैदिक पदमें है और यही मनोवृत्ती सब झगडोंका मूल है। इसको देखनेसे वैदिक मंत्रकी सचायी ही दिखाई देती है। ' ममसत्यं '

इस पदका युद्धवाचक भाव इस तरह इस विश्वमें प्रत्यक्ष दीख सकता है।

यहां तक हमने विश्वमें प्रचलित नाना प्रकारकी मत प्रणालियोंके कार्यक्रम देखे। सबमें 'व्यक्तिवाद और समाजवाद' का संघर्ष ही है। इसको देखकर हम विचार करना चाहते हैं कि, इस संघर्षका निवारण वेदने किस रीतिसे किया है।

संघ व्यक्तिका आश्रय है

वेदमें 'जगत्यां जगत्' (वा० यजु० ४०।१) समष्टिके आधारसे व्यष्टि रहती है। इस कथनमें आधार देनेवाली समष्टि है और आश्रय लेकर रहनेवाली व्यक्ति है। अतः समष्टी श्रेष्ठ व व्यक्ति गौण है ऐसा कहा है। [इसका विवरण "वैदिक व्याख्यान माला। द्वितीय व्याख्यान" में 'संपत्तिका अधिकार' नामक विवेचनके प्रसंगमें विशेष रूपसे किया है।] व्यक्ति समाजके आधारके विना रह नहीं सकती। व्यक्ति मरनेवाली है और समाज चिरंजीव रहता है। इसलिये समाजके हित साधन करनेके लिये सब धन हैं और व्यक्ति भी समाजकी सेवा करनेके लिये ही है। इस तरह समाजकी शाश्वती और व्यक्तिकी नश्वरताका वर्णन किया है और बताया है कि समाज ही व्यक्तिके लिये सेवा करनेके योग्य है।

इसी मंत्रभागका अधिक विवेचन करनेके उद्देश्य वेदने आगे कहा है—

व्यक्ति और संघ

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥ ९ ॥
अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसंभूत्या ऽमृतमश्नुते ॥ ११ ॥
(वा० यजु० ४०, काण्व ४० ई० उ०)

इन मंत्रोंमें व्यक्ति और समाजके संबंध कैसे होने चाहिये इसका उत्तम वर्णन है। व्यक्ति और समाजके संबंध कैसे होनेसे बिगाड होता है और कैसे होनेसे सुधार होता है इसका विचार इन मंत्रोंमें किया गया है। इस कारण हमारे आजके विषयका स्पष्टीकरण करनेवाले ये मंत्र हैं। इनका अर्थ लिखनेके पूर्व इनमें आये पदोंका अर्थ प्रथम निश्चित करना चाहिये। इसका कारण यह है कि बहुत विद्वानोंने इनके अर्थ कुछ विलक्षण किये हैं। इस कारण प्रथम हम इन मंत्रोंके मुख्य पदोंके अर्थोंका निश्चय करेंगे। इनमें मुख्य विषयका वर्णन करनेवाले पद ये हैं।

असंभूति- (मंत्र ९)— संभूति
असंभव (,, १०)— संभव
विनाश (,, ११)— संभूति
जगत् (,, १)— जगती

इस तालिकासे यह स्पष्ट होता है कि 'संभूति, संभव और जगती' ये पद एक अर्थ बतानेवाले हैं। और 'असंभूति, असंभव, विनाश और जगत्' ये पद एक अर्थ बतानेवाले हैं।

'जगत्' एक वस्तुका नाम है और उसी वस्तुकी समष्टिका अथवा संघका नाम 'जगती' है। 'जगतां समाहारः जगती' अनेक जगतोंका संघ जगती कहलाता है। 'जगत्' उसको कहते हैं कि जो 'गच्छति' हलचल करता है, गति करता है। ऐसे गतिमानों के संघका नाम 'जगती' है। एक व्यक्ति और उनका संघ यह भाव 'जगत् और जगती' का है। 'जगत्यां जगत्' का अर्थ ऐसा है कि 'समाजके आधारसे व्यक्ति रहती है।' यह मंत्र भाग इस अध्यायके पहिले मंत्रमें है। और इसी व्यक्ति और संघके तत्वका अधिक विवरण करनेके लिये ये मंत्र इसी अध्यायमें आगे आगये हैं। अब देखना है कि इस तत्वका अधिक स्पष्टीकरण ये मंत्र किस तरह करते हैं।

संघ बनाकर रहना

'संभूति' का अर्थ ऐसा होता है! (सं—) मिलकर एक होकर, संघ बनाकर (भूति) रहना, होना, बढना। मिलकर रहना, एक होकर रहना, संघ बनाकर रहना, समाज बनाकर बढना। यह संभूतिका मूल अर्थ है। यह अर्थ पूर्वोक्त 'जगती' के साथ मिलता जुलता है। जो अर्थ 'संभूति' का है वही अर्थ 'संभव' का है क्योंकि दोनोंमें एक ही धातु और एक ही उपसर्ग है। अतःधात्वर्थ एक ही है।

'संभव' शब्दका अर्थ 'उत्पत्ति, जन्म' ऐसा प्रसिद्ध है। 'कुमारसंभव' का अर्थ कुमारका जन्म है। यहां भी जन्मका अर्थ 'पंचतत्व, पंच कर्मेंद्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय,

अन्तःकरणचतुष्टय, आत्मा ये प्रत्येक बिखरे थे, वे एक होकर इस कुमारके रूपसे जन्मे हैं। यहां भी बिखरे तत्त्वोंको संघटना ही है जहां जन्म होता है,जहां नवजीवन प्रकाशित होता है, वहां ऐसी 'अनेक बिखरी शक्तियोंकी संघटना ही प्रथम होती है पश्चात् उस संघके कारण नवजीवन प्रकट होता है। संभूतिमें प्रथम शक्तियोंका संघटन और पश्चात् नवजीवनका संचार है। विश्वका संभव (जन्म उत्पत्ति) होनेमें अथवा बालक का संभव (जन्म) होनेमें यही तत्त्व है। प्रथम बिखरी शक्तियोंकी संघटना और पश्चात् नवजीवन प्राप्त होकर प्रकट होना है।

मानव संघ में भी यही बात है, प्रथम (सं) एक होकर (भू) रहना और पश्चात् नवजीवन के स्फुरणसे प्रकाशित होना।

'संभूय समुत्थान' का अर्थ संघ करके उठना, अथवा संघसे शत्रुपर आक्रमण करना। इसलिये ये पद (१) सैनिकोंके सांघिक आक्रमण के लिये तथा (२) व्यापारियोंके सांघिक व्यवहारके लिये अथवा (३) कर्मचारियोंके संघोंके लिये प्रयुक्त होते रहे हैं। स्मृति शास्त्रोंमें इस अर्थमें ये पद प्रयुक्त हुए हैं इसका पदशः अर्थ (सं-भूय) एक होकर, मिलकर संघ बनाकर, (समुत्थान) उठना,कार्य करना ऐसा है। तात्पर्य ' संभूति तथा संभव ' का अर्थ संघबना कर रहना है। जो अर्थ ' जगती ' पदमें हमने देखा है वही अर्थ ' संभूति ' में है। ' संभव ' का भी वही अर्थ है।'अ-संभूति और असंभव'का अर्थ जो संभूति और संभव नहीं वह असंभूति और असंभव है। संघ बनाकर न रहना, अर्थात् व्यक्तिशः रहना व्यक्तिका पृथक् पृथक् रहना है।

अब एक पद रहता है वह है'विनाश'। यह पद 'अ— सं- भूति ' के अर्थमें यहां प्रयुक्त हुआ है। ' असंभूति ' का अर्थ ' व्यक्तिकी पृथक् पृथक् स्थिति ' है। यह असंघटनाकी अवस्था है, इसीका नाम ' विनाश ' है। क्योंकि व्यक्ति विनाशको प्राप्त होती है और संघ अजरामर रह सकता है। हिंदु व्यक्ति मरती है परंतु हिंदु समाज लाखों वर्षोंसे जीवित है। असंघटनाके जीवन का नाम ' विनाश ' देकर यहां बडा ही बोधप्रद सिद्धान्त वेदमंत्रने बताया है, कि मानवों का अमरत्व संघभावसे है और व्यक्ति बिखरी रहने लगी, तो उस व्यक्तिका नाश ही होना है। इतने विवरण के पश्चात् अब वही तालिका देखिये कैसी परिपूर्ण अर्थवाली बनी है।

असंभूति	संभूति
असंभव	संभव
विनाश	(अमरत्व)
जगत्	जगती
व्यक्ति	समष्टि, संघ

इस तालिकासे यह स्पष्ट हुआ कि ' असंभूति ' का अर्थ ' व्यक्ति, असंघटित व्यक्ति ' और ' संभूति ' का अर्थ ' संघ, संघटित समाज ' है। इन पदोंके अर्थोंके विषय में इतना स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता इसलिये यहां पडी, कि कई विद्वानोंने इन पदोंके अर्थ विलक्षण किये हैं। वे अर्थ यहां नहीं हैं, यह प्रथम विदित होना चाहिये।

उदाहरणार्थ श्रीमान् परमपूजनीय शंकराचार्यजीने ' संभूति-असंभूति ' का पहिले मंत्रमें कुछ अर्थ किया, पर वह तीसरे मंत्रमें अनुकूल न हुआ, इसलिये उन्होंने लिखा कि 'अत्र अकारलोपो द्रष्टव्य ' अर्थात् यहां ' संभूति' के स्थान पर ' असंभूति ' और ' असंभूति ' के स्थान पर ' संभूति ' लेकर अर्थ करना चाहिये। दूसरे कई टीकाकारों ने इसका खंडन भी किया है। ये दोनों हमारे लिये सदा वंदनीय ही हैं, पर इस तरह मंत्रका अर्थ ठीक तरह नहीं हो सकता। वस्तुतः इन पदोंका अर्थ करनेके लिये इसी सूक्तके अन्तर्गत प्रमाण ही लेने चाहिये। वे हमने लिये हैं। प्रथम मंत्रमें ' जगत्यां जगत् ' ये दो पद हैं। इन दो पदोंसे जगत् की व्यवस्था बताई है। जगत् कैसा है 'जगतीके अधिकरण में रहनेवाला जगत् है '। जगतीके आधार पर रहनेवाला जगत् है। जगत् एक व्यक्ति है और अनेक जगतों की समष्टि जगती है। अर्थात् समष्टिके आधारसे व्यष्टि रहती है। यह सिद्धान्त प्रथम मंत्रमें स्थिर किया, और पश्चात् उसी सिद्धान्त का अधिक स्पष्टीकरण करने के लिये ये तीन मंत्र दिये हैं।

यह अध्यायके अन्दरका ही प्रमाण है और इसकी ओर ध्यानपूर्वक देखनेसे ' व्यक्ति और समष्टि ' का विचार यहां है यह स्पष्ट हो जाता है। अतः यह अर्थ लेकर ही अर्थ करनेसे मंत्रोंका सत्य अर्थ प्रकट हो जाता है और पश्चात् संदेह नहीं रह सकता। इसलिये इतने स्पष्टीकरणकी यहां आवश्यकता हुई।

अब इन अर्थोंको लेकर पूर्वोक्त तीनों मंत्रोंका अर्थ देखिये। ये अर्थ देखनेके पूर्व इस समय तक किये विवरणके अनुसार निम्नलिखित पदोंके निम्न लिखित अर्थ हमने यहां लिये हैं-

१ संभूति, संभवन = (सं) एक होकर (भूति, भवन) रहना, होना, बढनेका कार्य करना, संघीय जीवन व्यतीत करना। समाजभावसे रहना। समाजवाद।

२ असंभूति, असंभव-एक होकर न रहना, संघभावसे नहीं रहना। अकेले अकेले पृथक् पृथक् रहना। व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद मानना। इसीका नाम 'विनाश' है क्यों कि व्यक्ति मरती है। 'असंभूति तथा विनाश' यहां एक ही भाव बतानेवाले दो पद हैं।

ये अर्थ स्वीकार करके अब पूर्वोक्त मत्रोंका अर्थ नीचे देते हैं—

१ (ये असंभूतिं उपासते) जो व्यक्ति स्वातं- त्र्यवाद का अवलंबन करते हैं वे अधःपतन को प्राप्त होते हैं। (८)

२ परंतु जो समाजवादमें रमते हैं वे उससे भी अधिक निचे गिरते हैं। (९)

३ समाजवाद का एक विलक्षण फल है और व्यक्ति स्वातंत्र्य का भी एक विलक्षण फल है। ऐसा हमने ज्ञानी- योंसे सुना है। जो इस विषयकी चर्चा करनेमें प्रवीण हैं। (१०)

४ समाजवाद और व्यक्तिवाद ये दोनों साथ साथ रहे तो लाभदायक होते हैं। व्यक्तिवादके अनुष्ठानसे व्यक्तिके कष्ट दूर किये जाते हैं और समाजभावसे अमरत्व की प्राप्ति होती है। (११)

यहां जो अनुवाद किया है। वह आजकी परिभाषा में भावानुवाद है। शब्दशः अनुवाद देखना चाहेंगे वे हमारे ईश उपनिषद् में देखें।

असंभूतिके उपासक

कई लोग असंभूतिके पूजारी होते हैं। और कई संभूतिके उपासक होते हैं। अर्थात् कई व्यक्तिवादी होते हैं और कई समाज वादी होते हैं। 'अ-सं-भूति का अर्थ न-मिलकर-रहनेवाले' अर्थात् समाज संगठन की पर्वा न करते हुए व्यक्ति पूर्णरूपसे स्वतंत्र है ऐसा माननेवाले (अन्धंतमः प्रवि- शन्ति) अन्धकार में जाते हैं, अज्ञानमें रहते हैं और बडा दुःख भोगते हैं। यह कैसा होता है देखिये-

व्यक्तिवादी लोग व्यक्तिका सुधार करते रहते हैं और समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति सुधर गयी तो उनका बना समाज सुधर जाता है। ऐसा विचार करके ये लोग व्यक्ति को पूर्णरूपसे स्वतंत्र मानकर व्यक्तिकी पवित्रता, सुधार और उन्नतिके लिये जो चाहिये सो करते हैं। व्यायाम, स्नान, संध्या, उपासना, पूजा, पाठ अध्ययन, भोजन, रहन सहन जो भी व्यक्ति की सुस्थितिके लिये आवश्यक है वह सब ये करते हैं। व्यक्ति स्वतंत्र रूपसे अकेली जन्मती है और अकेली ही मर जाती है। न यह जन्मते समय दूसरेको साथ लाती है और न यह मरनेके समय दूसरेको साथ ले जाती है। प्रत्येक व्यक्तिके पीछे उसका कर्म लगा रहता है, वही मरणोत्तर उसके साथ जाता है। इसलिये कोई किसीका दूसरेसे संबंधी नहीं, इसलिये प्रत्येकको अपने उद्धारके लिये यत्न करना चाहिये, दूसरे झंझटोंमें पडनेकी जरूरत नहीं। ऐसा ये कहते हैं और व्यक्तिके लिये जो करना आवश्यक होता है वह ये करते रहते हैं। इसलिये संघशक्तिसे ये वंचित रहते हैं। मुझे दूसरेकी कुछ भी पडी नहीं है। दूसरा अपनी व्यवस्था देखे, मैं अपनी देखूगा।

कर्मानुगो गच्छति जीव एकः।

अपने कर्मोंके अनुसार मनुष्यकी उच्च अथवा नीच गति होती रहती है। इसलिये मैं अपने हितके लिये यत्न करूंगा, मुझे दूसरेकी व्यवस्था देखनेकी जरूरत नहीं है। ऐसा इनका मत है। पूर्ण व्यक्तिवादका यह स्वरूप है।

दूसरेकी घृणा

पूर्ण व्यक्तिवाद जब बढ जाता है, तब वह व्यक्तिकी पवित्रता करनेमें दत्तचित्त होता है। इसका परिणाम दूसरे की घृणा इसके मनमें उत्पन्न हो जाती है। अपने शरीरकी दुर्गन्धी आनेके कारण वह अपने शरीरकी ही घृणा करने लगता है, फिर दूसरेकी वह घृणा करेगा इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

'परैः असंसर्गः।'

शौचात् स्वांगजुगुप्सा। योगदर्शन

'पवित्रता करते करते अपने शरीरके अंगोंकी घृणा इसको उत्पन्न होती है। इसका परिणाम दूसरोंके साथ इस का संसर्ग ही कम हो जाता है। अपने नाक कानसे मल बाहर आते हैं, पसीना आता है, उसकी बदबू आती है,

अन्य इंद्रियोंसे अन्य मल बाहर जाते हैं इसलिये वह अपने शरीरकी दुर्गन्धीको देखता है और अपने तथा दूसरोंके शरीरोंसे घृणा करने लगता है। व्यक्तिवादी जीवनका यह घोर परिणाम है।

भारतवर्षमें हिंदु जातीमें यही हुआ है। यहां प्रत्येक व्यक्ति पृथक् पृथक् हुई है। व्यक्तिवादकी यहां परमावधी हुई है। वैदिक धर्मसे लेकर उपनिषद् तथा गीता तक समष्टि या संभूति का जीवन था। इसलिये वहां यज्ञ याग आदि सामुदायिक प्रशस्त कर्म होते थे, जन संपर्क अधिकाधिक होता था। न इस समय 'स्वांगजुगुप्सा' थी और नाही 'परैः असंसर्गः' (दूसरोंसे संपर्क न रखने का भाव) था। गीता कहती है कि व्यक्तिवादी मनुष्य 'विविक्तदेशसेवित्वं अरतिर्जन संसदि (गी. १३।१०)' 'एकान्तमें रहना और जन सभामें न जाना' यह व्यक्तिवादकी अन्तिम अवस्थामें रहता है। व्यक्ति अपनी पवित्रता करती है, शरीर स्वच्छ करने लगती है। उस समय उसको विदित हो जाता है, कि अपने शरीरसे प्रत्येक छिद्र से मल बाहर आ रहे हैं। कोई ऐसा छिद्र नहीं कि जिससे मल बाहर नहीं जाता। यह देखकर उसको प्रतीत होता है कि यह शरीर तो मलका गढा है। ऐसा प्रतीत हुआ तो वह अपने शरीरकी घृणा करने लगता है। जो अपने शरीरकी घृणा करेगा व दूसरोंसे संपर्क किस तरह बढाना चाहेगा?

दूसरेके तथा अपने शरीरको भी जिसको घृणा होती है, अकेला वहही घूमेगा, वह दूसरेके साथ बैठेगा भी नहीं। उसको दूसरोंके शरीरोंसे दुर्गन्ध आने लगेगी। ऐसी अवस्थामें वह किसी स्त्रीसे विवाह भी कैसा करेगा? इसलिये ये व्यक्तिवादी ब्रह्मचर्य पालन करनेकी ओर झुकते हैं। तरुणपनमें ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचर्यके पश्चात् संन्यास ही ये लेते हैं और स्त्रीसंबंध करना बहुत बुरा मानते हैं। व्यक्तिवादी अपने शरीरकी शुद्धता करते करते, इस भयानक अवस्था तक पहुंचते हैं। वैदिक धर्ममें यह नितान्त व्यक्तिवाद है ही नहीं। वहां ब्रह्मचर्यके बाद गृहस्थाश्रम है, उसके बाद वानप्रस्थ है। वे सब आश्रम जनसंपर्कके ही हैं। इनमें संघटना करनी है। असंसर्गकी निंदा यहां नहीं हैं। यहां न अपने शरीरसे घृणा है और नाही दूसरोंके शरीरकी निंदा है। वहां शरीर तो देवताओंका मंदिर है, सप्त ऋषियोंका आश्रम यह शरीर है। इसलिये वैदिक धर्ममें स्वांगजुगुप्सा किस तरह हो सकती है?

व्यक्ति स्वातंत्र्यवादीयोंकी यह घोर कुकल्पना है जो मानव समाजका घात करनेवाली है। वैसा घात इस कल्पनाने हिंदुसमाजका किया है। कहावत ही है कि यहां 'दस मनुष्य हुए तो ग्यारह चूल्हे होंगे।' यह व्यक्तिवादकी पराकाष्ठा है। संघटनाका पूर्ण अभाव यहां इसी व्यक्तिवादके कारण है।

अन्धंतमः प्रविशान्ति ये असंभूतिं उपासते। (यजु- ४०।९)

'व्यक्तिवादके पूजक अन्धकारमें जाते हैं' यह जो कहा है वह इस व्यक्तिवादके परिणामको देखकर ही कहा है। जो व्यक्तिवादी होते हैं वे घमंडी भी होते हैं। घमंड इनमें इसलिये होती है कि मैं अधिक तपस्वी, अधिक शुद्ध, अधिक सात्विक हूं। इस तरह ये मैं अधिक शुद्ध और दूसरा अधिक अपवित्र है, ऐसा मानकर वैसा व्यवहार करने लगते हैं। इस कारण विद्वेष बढता है। जो अपने आपको अधिक उच्च समझता है उसीका द्वेष अन्य लोग करने लगते हैं।

विभेदोंकी वृद्धि और सामूहिक निर्बलता

जहां व्यक्तिवाद बढता है वहां दो आदमीयोंका समझौता होना कठिन हो जाता है। इससे असंघटना होती है और संघबलका अभाव होनेसे वह समाज अत्यंत निर्बल हो जाता है। कोई आजाय और उसको दबा दे, यह अवस्था आ जाती है। आज हिंदुसमाज व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी होनेके कारण निर्बल बना है। वास्तवमें सब हिंदु एक धर्मके बधनसे बंधे हैं, परंतु देखा जाय तो वेशभूषा, खान पान, भाषा, रहन सहन इनमें इतनी पृथकता है कि इस समाजको एक कहना असंभव प्रतीत होता है। पगडियां देखिये, प्रान्त प्रान्तकी पृथक् तो हैं, पर प्रांतमें भी जाती उपजातीकी भी पृथक् हैं। इसी तरह अन्य वेशभूषाके विषयमें जान सकते हैं। एक देशमें रहनेवाले और एक धर्मके मनुष्योंमें रहन सहनमें इतनी विभिन्नता किसी दूसरे देशमें दिखाई नहीं देती। इसीलिये पंजाबके ब्राह्मणसे मद्रासके ब्राह्मणोंसे विवाह नहीं होता। क्योंकि इनमें समानता कुछ भी नहीं, परंतु विषमता ही बहुत है। यह अति स्वातंत्र्य प्रियताका दुष्परिणाम हैं। अन्य कारण भी हैं। पर व्यक्तिनिष्ठाकी अधिकता यहांके समान किसी दूसरे

देशमें नहीं है।

इसीलिये कहा है जो व्यक्तिनिष्ठ होते हैं वे अन्धकारमें जाते हैं। यह अन्धकार असंघटनासे उत्पन्न होनेवाला है। इसका परिणाम सामूहिक निर्बलता है। ये असंघटित होते हुए बडा दुःख प्राप्त करते हैं क्योंकि अन्धकारसे दुःख होना स्वाभाविक है। इनकी उन्नति नहीं हो सकती। ये अधः-पतित होकर गिरते ही जायेंगे।

संघटनाके उपासक

इसके आगे कहा है कि " ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः। " जो संभूतिकी-सघटनाकी ही उपासना करते हैं वे उससे भी अधिक घने अन्धेरेमें जाते हैं। जो संघशक्तिकी उपासना करते हैं वे अधिक दुःखमें गिरते हैं। केवल व्यक्तिभावकी उपासना करनेवाले जितने गिरते हैं, उससे अधिक संघभावमें रमनेवाले गिरते हैं। यह प्रथम विचित्रसा प्रतीत होता है, पर विचार करनेपर पता लगेगा कि इसमें सत्य है।

देखिये जो संघटनावादी, समाजवादी, संघवादी होंगे, वे संघटना शक्ति बढानेके लिये व्यक्तिका स्वातंत्र्य नष्ट कर देंगे। क्योंकि किसी व्यक्तिको यदि स्वातंत्र्य मिला तो वह व्यक्ति पृथक् रहेगी, और उस प्रमाणमें संघटना शिथिल होगी। इसलिये ये समाजवादी व्यक्तिकी स्वतंत्रता विनिष्ट करते हैं और अपने समाजकी संघटनाकी शक्ति बढाते हैं। इस कारण इस समाजवादियोंके समाजकी व्यक्ति अत्यंत दब जाती अतः विकसित नहीं होती।

मानवताकी हानि

जिस समाजकी प्रत्येक व्यक्ति इस तरह दब जाती है, वह समाज भी दबी हुई गुलामी वृत्तिवाले लोगोंका समाज बन जाता है। यद्यपि इस समाजमें सांघिक बल बडा हुआ दीखता है तथापि वह समाज दबी हुई व्यक्तियोंका होनेके कारण मानवताकी दृष्टीसे अवनत ही होता है। सब लोग मानसिक गुलामीसे दबे हुए और ऐसे दबे हुओंका समाज, यद्यपि सांघिक शक्तिसे युक्त हुआ, तो भी वह गुण्डोंकासा समाज होगा और मानवताके उच्चस्तर पर उसका कुछ भी मूल्य नहीं होगा। यह कितना अधःपात है ? इसलिये वेद कहता है कि—

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥९॥
(वा० यजु० ४०)

' जो व्यक्तिस्वातंत्र्यके पुजारी हैं वे अवनत होते हैं और जो संघटनाके कार्यमें रमते हैं वे भी उससे अधिकदुःखमें गिरते हैं। ' अर्थात् केवल व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद जैसा बुरा है, वैसा अथवा उससे भी अधिक समाजसंघटनावाद भी बुरा है। इन दोनोंकी उपासना पृथग्भावसे करनेवाले गिरते ही जाते हैं। यहांके वाक्य मनन करने योग्य हैं

१ असंभूतिं उपासते— व्यक्तिभावके उपासक।
२ संभूत्यां रताः— संघजीवनमें रमनेवाले।

यहां भाव यह है कि (१) समाज संघटनाकी ओर दुर्लक्ष्य करके जो व्यक्तिको पूर्ण स्वातंत्र्य देते हैं वे गिरते हैं, वैसे ही (२) जो समाज संघटित करनेमें ही रमते हैं, परंतु व्यक्ति विकासकी ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते वे भी उससे अधिक गिरते हैं। एक ही मन्तव्यमें दत्तचित्त रहना और दूसरे मन्तव्यके विचारोंकी ओर नहीं जाना, यह अवस्था दोष बढानेवाली है। यह इस वर्णनका तात्पर्य है। अपनी पद्धतिका मनुष्य स्वीकार और प्रचार भी करे, परंतु दूसरी पद्धतिमें यदि कोई गुण रहे तो उनका भी मनुष्य विचार करे यह अत्यंत आवश्यक है। इसलिये कहा है कि दूसरे पक्षका बिलकुल विचार न करनेवाले और अपने विचारमें ही रमनेवाले गिर जाते हैं।

प्रत्येक पक्षमें कुछ न कुछ गुण भी होते हैं और दोष भी होते हैं। इनका विचार करना चाहिये और जहां जो गुण होगा, उसको वहांसे लेना चाहिये। इसलिये अगले मंत्रमें कहा है।

विशेष फल

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

" संघ शक्तिसे कुछ विशेष लाभ होते हैं और व्यक्ति-की स्वतंत्रतासे भी कुछ विलक्षण लाभ होते हैं। ऐसा हम उनसे सुनते आये हैं कि, जो हमें इसका उपदेश देते रहे। "

व्यक्तिस्वातंत्र्यका फल

अर्थात् व्यक्तिकी स्वतंत्रतासे कुछ विलक्षण लाभ होते हैं। व्यक्तिको स्वतंत्रता देनेसे वैयक्तिक गुणोंका विकास होता है,

गुणोंकी वृद्धि होनेसे विशेषीकरण होता है, अर्थात् व्यक्तिका व्यक्तिमत्त्व रहता और बढता है। यह अत्या वश्यक भी है। व्यक्ति की उन्नति व्यक्ति स्वतंत्र रही, अपने भविष्यके विषयमें सोचती रही, अपनी उन्नतिके लिये विशेष प्रयत्न करती रही, तो ही हो सकती है। यदि व्यक्ति गुलाम जैसी पराधीन ही रही, यदि वह कैदी जैसी अस्वतंत्र रही, तो उसकी उन्नति नहीं होगी। अर्थात् व्यक्तिके गुणोंका विकास करनेके लिये व्यक्तिको स्वतंत्रता चाहिये। स्वतंत्रतासे गुणों का विकास होना संभवनीय है

संघटनाका प्रचण्ड सामर्थ्य

इसी तरह संघटना करने से सांघिक बल भी प्राप्त होता है। मानवी उन्नतिके लिये व्यक्ति के गुणोंका विकास होना अत्यंत आवश्यक है। उसी तरह सांघिक बल भी बढना चाहिये। ऐसा होनेसे दोनोंसे लाभ हो सकते हैं और दोनों ओरकी आपत्तियाँ टालीं जा सकती हैं। दोनों आपत्तियां टल जांय और दोनों लाभ प्राप्त हों ऐसा करनेकी सूचना वेद यहां दे रहा है। इन दोनों का समन्वय वेदने कैसा किया यह देखिये—

दोनोंका समन्वय

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

" संघभाव और व्यक्तिभाव इन दोनोंका समन्वय करनेसे लाभ होते हैं यह जो जानता है, वह व्यक्तिभावसे व्यक्तिगत दुःख दूर करके संघभावसे अमरत्व प्राप्त करता है।" यह दोनोंके समन्वय का सुवर्णनियम वेदने मानवी उन्नतिके लिये दिया है।

अमरत्वकी प्राप्ति

मनुष्य अमरत्व चाहता है, वह अमरत्व 'संभूति' से ही मिल सकता है। 'संभूत्या अमृतत्वं अश्नुते' संघसे अमरत्व प्राप्त होता है। व्यक्ति कभी अमर होनेवाली नहीं है। व्यक्ति अनेक यत्न करनेपर भी किसी न किसी समय अवश्य मर जायगी। वसिष्ठ, वामदेव, अत्रि, दुर्वासा, पतंजली आदि सब ऋषिमुनि मर गये हैं। योगाभ्यास करनेवाले भी मर चुके हैं। इसलिये व्यक्ति को मृत्यु लगा ही है। व्यक्तिसे मृत्यु दूर हो सकता है अर्थात् वैयक्तिक प्रयत्नसे दीर्घायु प्राप्त की जा सकती है। परंतु यह शरीर स्थायी नहीं रह सकता। कभी न कभी इसने मरना ही है। 'जपी तपी सब मर गये। मर गये जंदर जोगी।' यह वास्तव स्थिति है। इस व्यक्तिभाव का ही नाम इस मंत्रमें 'विनाश' रखा है। व्यक्ति विनाश को प्राप्त होगी। व्यक्ति स्वयं विनाशवान् है। परंतु (संभूत्या अमृतं अश्नुते) संघजीवन-सामुदायिक जीवन जीनेसे अमरत्व प्राप्त होता है। व्यक्ति मरनेवाली और समुदाय अमर है। हिंदु-व्यक्ति मरती है पर हिंदुसमाज अमर है।

व्यक्तिवादी व्यक्तिको अमरत्व देनेके प्रयत्न कर रहते हैं। इसके लिये इन्होंने बडे अनुष्ठान किये हैं पर वे सब व्यर्थ हुए हैं। जो कभी सिद्ध होना नहीं है उसके लिये उनका प्रयत्न है, वह कदापि सिद्ध नहीं हो सकेगा।

वैयक्तिक प्रयत्नके लाभ

पर व्यक्तिभावसे व्यक्तिका व्यक्तित्व सुरक्षित रह सकता है। जैसा स्नान करनेसे शरीर स्वच्छ होता है, स्वच्छता करनेसे शरीर नीरोग हो जाता है। भोजन करनेसे शरीर पुष्ट होता है, व्यायाम करनेसे शरीरका बल बढ जाता है। संध्या उपासना करनेसे अन्तःकरण की शान्ति सुस्थिर रह सकती है, जिससे दीर्घायु हो जाती है। इसका नाम है, मृत्युको तैरकर पार होना (मृत्युं तीर्त्वा) मृत्युको दूर करना। यह सब व्यक्तिभावकी व्यक्तिशः सेवा शुश्रूषा करनेसे ही होता है। यह लाभ कोई कम नहीं है। व्यक्ति निरोग, दीर्घजीवी, सुखी, हृष्टपुष्ट, आनंद प्रसन्न, कार्यक्षम, यशस्वी, पराक्रमी होनी चाहिये। व्यक्तिभाव की उपासनासे ही यह होना संभव है। जहां व्यक्तिभाव की उपासना ठीक तरह नहीं होती, वहां व्यक्ति निर्बल होजाती है। और निकम्मी सिद्ध हो जाती है। व्यक्तिके गुण विकसित होने चाहिये और ऐसी विकसित गुणोंवाली व्यक्ति समाज की सेवा करनेके लिये मिलनी चाहिये। निकम्मे मनुष्य हो गये तो वे समाजकी सेवा कैसी करेंगे? और समाज सेवा ठीक तरह न हुई तो समाज सुखी भी किस तरह होगा? अमर भी कैसा होगा? क्योंकि निर्बल व्यक्तियोंका समाज निर्बल होगा और कोई दूसरा बलवान समाज उसको खा जायगा। इसलिये व्यक्ति आशिष्ट दृढिष्ठ बलिष्ठ होनी चाहिये और सद्भावना से युक्त होनी चाहिये।

ब्रह्मचर्याश्रम

राष्ट्रमें प्रथम आयुमें प्रत्येक व्यक्तिको अपनी उन्नति करनेकी सुशिक्षा मिलनी चाहिये । ब्रह्मचर्याश्रम व्यक्तिका व्यक्तित्व विकसित करनेके लिये ही है। १२ या २४ वर्ष तक व्यक्तिके अन्दर के गुणोंका विकास किया जा सकता है। ऐसा प्रत्येक व्यक्तिको करना चाहिये ।

योगसाधन

व्यक्तिमें शरीर, इन्द्रिय और अवयव हैं। योगके आसनों के व्यायामसे शरीरके प्रत्येक अवयव का उत्तम विकास होता है और रोग दूर करनेकी शक्ति शरीरमें बढ जाती है। यह कार्य सबसे प्रथम करने का है। इसके पश्चात् प्राणायाम का अभ्यास होता है। प्राणके आधारसे ही सब इंद्रियां और अवयव कार्य करते हैं। दीर्घजीवन शरीर के लिये प्राप्त होना इस प्राणशक्तिके बल से ही होनेवाली बात है । इसलिये जैसे आसन वैसे ही प्राणायाम व्यक्तिशः करनेके व्यायाम हैं। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि यह योगसाधन व्यक्तिके विकास के लिये है । वैदिक धर्मके अन्दर व्यक्तिके विकासका यह कार्यक्रम परिपूर्ण है। वैदिक धर्मने व्यक्तिविकास को ओर दुर्लक्ष्य नहीं किया है। आसन व्यायामसे शरीर, प्राणायामसे प्राणशक्ति, प्रत्याहारसे संयम, ध्यानधारणासे मनकी शक्ति और समाधि से निज आत्मशक्ति विकसित हो जाती है। यह व्यक्तिकी ही उपासना है। व्यक्तिकी परम उन्नति इस अनुष्ठानसे प्राप्त होती है। यह प्रत्येक व्यक्ति को करना अत्यंत आवश्यक और अनिवार्य भी है। वैदिक धर्म की यह व्यवस्था ऐसी व्यक्तिकी उन्नति पूर्ण रीतिसे करनेवाली है।

योगानुष्ठानके प्रारंभमें ' यम और नियम ' कहे हैं। इनमें ' यम ' सार्वजनिक जीवन के लिये हैं और नियम वैयक्तिक जीवन के लिये हैं। इनमें प्रथम व्यक्तिकी उन्नतिके लिये नियम कैसे उपयोगी हैं यह देखिये–

वैयक्तिक जीवन

शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः । (योगदर्शन)

शुद्धता पवित्रता, मनका सन्तोष, शीत उष्ण सहन करनेकी शक्ति, उत्तम ग्रंथोंका अध्ययन, और ईश्वरकी भक्ति ये नियम हैं। ये व्यक्तिकी उन्नतिके साधक हैं । शरीर की पवित्रता होनेसे शरीर निरोग बनेगा, मनका संतोष रहनेसे मन उत्साह युक्त हो जाता है, शीत उष्ण सहन करनेकी शक्ति बढनेसे रोग दूर होते हैं, शरीरकी थकावट नहीं होती। उत्तम ग्रंथोंका पठन पाठन होनेसे उत्तम ज्ञान मिलता है जिससे जीवन सुधरता है, ईश्वरभक्ति से अपनी आत्मशक्ति बढती है। इस तरह ये सब नियम वैयक्तिक गुणविकास के लिये हैं।

योगसाधनमें वैयक्तिक सुधार का कार्यक्रम है । यह होना ही चाहिये। इस अनुष्ठानसे व्यक्ति उच्च होती है। उन्नत होती है। ऐसी उन्नत और समर्थ बनी व्यक्ति सार्वजनिक कार्य करनेके लिये तैयार की जाती है। इस तरह उन्नत मनुष्यसे ही सार्वजनिक हितके कार्य अच्छी तरह बन सकते हैं।

सार्वजनिक जीवन

अब सार्वजनिक जीवनके नियमोंका स्वरूप देखिये–

अहिंसा-सत्य-अस्तेय ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यमाः । (योगदर्शन)

ये सब यम सार्वजनिक जीवन का आदर्श जनताके सामने रखते हैं । मनुष्यका सार्वजनिक जीवन इस आदर्श के अनुकूल होना चाहिये–

१ अहिंसा–मनुष्यके व्यवहारमें काया वाचा मन से अहिंसा प्रकट होनी चाहिये। अहिंसा निषेध करती है। बात बात नहीं करना चाहिये, परंतु प्रत्यक्ष दूसरोंका हित करना चाहिये। दूसरोंकी सहायता करनी चाहिये। दूसरोंका द्वेष नहीं करना चाहिये।

२ सत्य– मनुष्यके व्यवहारमें सत्य रहना चाहिये । काया वाचा मनसे मनुष्य सत्यके अनुकूल रहकर व्यवहार करे। दूसरोंके साथ व्यवहार करते समय असत्यके व्यवहारसे लाभ भी होता हो, तोभी उस समय सत्य का ही पालन करना चाहिये।

३ अस्तेय– चोरी नहीं करनी चाहिये, चोरी करनेसे

लाभ होता है ऐसा दीखता है, परंतु चोरका कभी कल्याण नहीं होता है। चोरी, कालाबाजार, मिथ्या व्यवहार का सर्वथा त्याग करके मनुष्य उत्तम सरलता का व्यवहार करे।

देखिये 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय' ये मनुष्यके सार्वजनिक व्यवहारके नियम कितने अच्छे हैं। इनसे मनुष्यका सामर्थ्य बढता है। मनुष्यका आत्मा उन्नत होता है। ऐसा मनुष्य ही मानवी समाजका आदर्श हो सकता है। यह संभूतिके जीवनका आदर्श है।

४ ब्रह्मचर्य– 'ब्रह्म' अर्थात् बडी शक्ति प्राप्त करने के लिये जो 'चर्य' अर्थात् चाल चलन और व्यवहार करना आवश्यक है, वैसे सद्व्यवहारका नाम ब्रह्मचर्य है। समर्थ बनने के लिये आवश्यक श्रेष्ठ आचरण करनेका नाम ब्रह्मचर्य है। योग परिभाषामें 'ऊर्ध्वरेता' बननेके अनुष्ठान को ब्रह्मचर्य कहते हैं। विवाह पूर्व स्त्रीभोगका पूर्ण संयम और विवाह होनेपर वैवाहिक नियमानुसार स्त्री संबंध करनेका नाम ब्रह्मचर्य है। यह सबको विदित है।

५ अपरिग्रह– अपने पास भोग्य पदार्थोंका अत्यधिक संग्रह करनेका नाम परिग्रह है। वैसा संग्रह अपने पास न रखनेका नाम 'अपरिग्रह' है। किसी एक व्यक्तिके पास अनंत भोग साधन इकठ्ठे हो गये, तो अन्य व्यक्तियां उन भोगोंसे वंचित रहती है। इस कारण ये वंचित व्यक्तियां उस परिग्रह करनेवालेका द्वेष करने लगती हैं। इस कारण विश्वमें विग्रह उत्पन्न होते हैं। छोटे परिमाणमें इनका नाम झगडा है और बडे परिमाण में इनको युद्ध कहते हैं। परिग्रह के कारण ही ये युद्ध होते हैं। इसीलिये भोगोंका अत्यधिक संग्रह अपने पास करना उचित नहीं। कमसे कम अपने जीवन निर्वाह के लिये जितना अत्यंत आवश्यक है, उतना मनुष्य अपने पास रखे, इससे अधिक न रखे। इस मर्यादा का उल्लंघन कोई न करे। सार्वजनिक झगडे और युद्ध कम होनेके लिये इस तरह मनुष्य अपने भोगोंपर संयम रखे।

वे पांच यम हैं। ये सार्वजनिक जीवन सुखदायी होनेके लिये मनुष्योंके द्वारा पालन करना अत्यंत आवश्यक है। वैदिक धर्मानुसार सामाजिक जीवन कैसा होना चाहिये, इस प्रश्नके उत्तरमें यह कह सकते हैं कि इन पांच यमोंको पालन करनेसे जैसा जीवन हो सकता है वैसा जीवन होना चाहिये।

योगसाधनसे जैसा वैयक्तिक जीवन उच्च होता है वैसा ही सामुदायिक जीवन भी उच्चतर हो सकता है।

वैयक्तिक जीवन और सामुदायिक जविन का यह उत्तम समन्वय है। इस समन्वयसे केवल वैयक्तिक स्वातंत्र्यसे जो दोष उत्पन्न होते हैं वे सब दूर हो जाते हैं और वैयक्तिक उन्नतिसे जो लाभ होनेकी संभावना है वे लाभ प्राप्त होते हैं। इसी तरह केवल सामाजिक संघटना करनेवालोंके प्रयत्नोंसे व्यक्ति दब जानेकी संभावना होती है वह भी इससे दूर होती है और मनुष्यके सामुदायिक जीवन का सुधार होनेसे अनंत लाभ होते हैं। इस कारण इस समन्वय से इन दोनों जीवनोंके दोष दूर हो जाते हैं और गुण ही मिलते हैं यह यहां पाठक जानें। इसका तात्पर्य यह है कि केवल व्यक्ति स्वतंत्रतावाद जैसा हानिकारक है वैसा ही केवल समाजवाद भी हानिकारक है। पर दोनोंका समन्वय लाभकारी है।

हमें तो व्यक्तिकी भी उन्नति होनी चाहिये और समाज भी सुसंघटित होना चाहिये। ये दोनों जिससे साध्य होंगे वह जीवन की व्यवस्था हमें चाहिये। व्यक्ति की स्वतंत्रता बढाकर समाज संघटनाको हानि पहुंचाना जैसा योग्य नहीं है, वैसा ही समाज संघटना से प्रचण्ड बल प्राप्त करने के लिये व्यक्तिको निर्जीव यंत्र बनाना भी इष्ट नहीं है। केवल किसी एक ही पक्षका स्वीकार करनेसे जो हानि होती है वह समन्वयसे टालनी चाहिये।

यूरोपके वाद

यूरोपमें व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि अनेक वाद उत्पन्न हुए हैं। उनको भारतीयों का वैदिक धर्मका सिद्धान्त विदित नहीं है। विराट् पुरुषके देहमें सर्वत्र व्यापक एक ही जीवन है। यह विराट् पुरुषका देह यह 'सब विश्व' ही है। इसमें सूर्य चन्द्र पृथ्वी पशु पक्षी मानव आदि सब संमीलित हैं। पृथ्वीके ऊपर भी विराट् पुरुष का ही एक अखण्ड और अद्वितीय एकरस जीवन व्याप रहा है। इस लिये यहां व्यक्ति दूसरी व्यक्तिसे सर्वथा पृथक् नहीं है। सब विराट् पुरुषके एक जीवन में ही संमिलित हैं। सब इस

विराट् पुरुषके देहके अंग और अवयव हैं। यहां अवयव और अवयवी का संबंध है। यही संबंध जानना योग्य है।

अंग और अंगी

शरीरमें देखिये इस एक शरीरमें इंद्रियों और अवयवों में सबमें व्याप्त रहनेवाला एक ही जीवन है। यह एक जीवन है ऐसा मानकर ही यहां के इंद्रिय व्यवहार होने चाहिये। यद्यपि प्रत्येक इन्द्रियमें अनेक अणुजीव रहते हैं और वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं, तथापि वह इन्द्रिय अखण्ड शरीरका एक भाग है। इसलिये शरीरका एक अंश है ऐसा मानकर ही व्यवहार करना चाहिये।

इसी तरह राष्ट्रमें व्यक्ति का व्यवहार वह व्यक्ति राष्ट्र का अंग है ऐसा मानकर ही होना योग्य है। यह अंग-अंगी संबंध किस तरह वेदने बताया है यह देखिये-

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
अथर्व. १०।७।३३

'जिसका सूर्य चक्षु है, पुनः पुनः नया नया बननेवाली चन्द्रमा भी जिसका आंख है, अग्नि जिसका मुख है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये नमस्कार है।' सूर्यचन्द्र जिसके आंख हैं और अग्नि जिसका मुख है वह ज्येष्ठ ब्रह्म है। जिस तरह मनुष्यके शरीरमें आंखों कानों में तथा हाथों पावोंमें शरीरका एक ही जीवन संचरित होता है, उसी तरह इस विश्वमें परमात्माका, ज्येष्ठ ब्रह्मका जीवनरस संचरित हो रहा है। इसी तरह और भी वर्णन है-

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातास्तिष्ठन्त्यार्पिताः॥ १२॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः॥ १३॥
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः॥ १५॥
यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः॥ १६॥
यस्य शिरो वैश्वानरः चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
अंगानि यस्य यातवः स्कंभं तं ब्रूहि ०॥ १८॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे॥ २७॥
यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३२॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥३४
अथर्व १०।७

'जिसमें भूमि अन्तरिक्ष, द्यु, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु समर्पित हुए हैं। जिसके अवयवों में तैंतीस देवता हैं। समुद्रको मिलनेवाली नदियां जिसके शरीरकी नाडियां हैं। चारों दिशाएं जिसकी नाडियां हैं। जिसका सिर वैश्वानर अग्नि है, अंगिरस जिसके आंख बने हैं' सब प्राणी अथवा गतिमान (यातवः) पदार्थ जिसके शरीरके अवयव हैं। जिसके शरीरके अवयवों में तैंतिस देवताएं विभक्त होकर रही हैं। भूमि जिसके पांव, अन्तरिक्ष जिसका उदर है, द्यु जिसका सिर है उस श्रेष्ठ ब्रह्मके लिये मेरा नमस्कार है। वायु जिसके प्राण और अपान है, अंगिरस जिसके आंख हैं, दिशाएं जिसके ज्ञान देनेवाले श्रोत्र हैं, उस ज्येष्ठ ब्रह्मके लिये प्रणाम हो।'

ज्येष्ठ ब्रह्मका विश्वरूप

इस वर्णन में ज्येष्ठ ब्रह्मका यह विश्वरूप देह है यह स्पष्ट हुआ है। ज्येष्ठ ब्रह्मका जीवन इस विश्वमें सर्वत्र संचरित हो रहा है यह यहां स्पष्ट होता है। संपूर्ण विश्व ज्येष्ठ ब्रह्मके जीवनसे अनुप्राणित हुआ है। इसी तरह और भी वर्णन है वह भी यहां देखिये—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥ १॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रोऽजायत
ऋ १०।९०, वा-य-३१

हजारों सिरोंवाला, हजारों आंखोंवाला और हजारों पांवोंवाला एक पुरुष -विराट् पुरुष - है वह भूमि के चारों ओर बसा है और वह बाहर भी है। ब्राह्मण उसके सिर हैं, क्षत्रिय उसके बाहु हैं, वैश्य उसकी जांघें हैं और शूद्र उसके पांव हैं। इस वर्णन से तो स्पष्ट हो गया कि जिसके शरीरमें सिर, आंख, कान, हाथ, पेट, पांव ये हजारों हैं ऐसा एक विराट् पुरुष है, और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये उसके सिर बाहु पेट और पांव हैं। अर्थात् हजारों ब्राह्मणों-के सिर उसके सिर हैं, हजारों क्षत्रियों के बाहू उसके

बाहु हैं, हजारों वैश्य ये उसके पेट तथा जंघाएं हैं और हजारों शूद्र ये उसके पांव हैं। यदि ब्राह्मण -क्षत्रिय - वैश्य -शूद्र निषाद ये उसके शरीरके अवयव हैं तब तो निश्चय ही है कि उसका जीवन रस इन सबमें संचरित हो रहा है और ये सब मिलकर उसका शरीर -उसका एक ही शरीर हुआ है।

सब प्राणी मिलकर विराट् पुरुष एक है यह वैदिक कल्पना सब से प्रथम समझमें आनी चाहिये, तब वैदिक धर्मका व्यवहार ठीक समझमें आसकता है।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद ये पंचजन मिलकर एक विराट् पुरुषका विशाल देह है और यह सब मिलकर एक ही देह है। यह एकत्व देखना चाहिये। और यही समझना चाहिये।

व्यक्तिसत्ता मारी नहीं है

यहांका एक जीवन है ऐसा कहनेसे प्रत्येक व्यक्तिका व्यक्तित्व मारा नहीं जाता यह विशेषता यहां है। जिस तरह मनुष्यके एक शरीरमें करोडों अणुजीव रहते हैं और उनमेंसे प्रत्येक अणुजीव स्वतंत्र रीतिसे जन्मता रहता और मरता है। ऐसा प्रत्येक जीव स्वतंत्र रहने पर भी, इन करोडों अणु-जीवोंमें एक श्रेष्ठ आत्माकी शक्ति एक रस व्याप रही है और उन करोडों अणुजीवोंको अनुप्राणित कर रही है। ठीक उस तरह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद हजारों लाखों और करोडों की संख्या में हैं, इनमें से प्रत्येक स्वतंत्र रीतिसे जन्मता, रहता और मरता है, अतः प्रत्येक स्वतंत्र है, तथापि इनमें एक विराट् आत्माकी शक्ति एक रस व्याप रही है और उन करोडों मनुष्योंको अनुप्राणित कर रही है।

इस तरह प्रत्येक जीव स्वतंत्र है, परंतु समष्टिकी जीवन दृष्टीसे वह एक है। विभक्त होता हुआ अविभक्त है। स्वतंत्र होता हुआ एक जीवन में बंधा है। प्रत्येक स्वतंत्र होनेपर भी उसमें सामूहिक एकता है यही यहां समझनेवाली तथा मननसे जानने योग्य और मुख्य बात है।

मैं स्वतन्त्र हूं

अपने शरीरमें देखिये, प्रत्येक मनुष्य कहता है कि मैं एक व्यक्ति हूं, मुझमें नानात्व नहीं है। यह प्रत्येक का अनुभव है। तथापि एक व्यक्तिके एक शरीरमें करोडों अणुजीव हैं और उन जीवोंमें से प्रत्येक कहता होगा कि मैं स्वतंत्र हूं। प्रत्येक स्वतंत्र तो है, परंतु उसमें एक जीवात्माका जीवन अनुप्राणित हो रहा है। इसी तरह पृथ्वीपरके करोडों मानवोंमें विराट् पुरुष का अखण्ड एक रस जीवन अनुप्राणित हो रहा है। यह विराट् पुरुषकी दृष्टिसे एकता है, विराट् पुरुष की दृष्टिसे यहां नानात्व नहीं है। परंतु जीव शरीर की दृष्टिसे यहां नानात्व है।

मनुष्यके तीन देह

यह नानात्वमें एकत्व और एकत्व में नानात्व कैसा होता है वह देखिये। मनुष्यके स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये देह हैं। कई तत्त्वज्ञानी महाकारण देह भी और एक है ऐसा मानते हैं। स्थूल और सूक्ष्म देह प्रत्येक के विभिन्न हैं और कारण देहकी दृष्टिसे सबकी एकता है क्योंकि कारण देह सबका एक है। अतः स्थूल देह की दृष्टिसे विभिन्नता और कारण देहकी दृष्टीसे अभिन्नता यहां है। कारण देह सबका एक है यह सब शास्त्रों का सिद्धान्त है और प्रत्येक का स्थूल देह भिन्न है यह प्रत्येक का अनुभव है। इस तरह एकत्व और भिन्नत्व की व्यवस्था है। यही ज्ञान व्यक्तिवाद और समष्टिवाद की व्यवस्था अथवा समन्वय करनेमें सहायता करनेवाला है।

स्थूल दृष्टिसे भिन्न और कारण दृष्टिसे एक

इस तात्त्विक विवरणसे इस बातकी सिद्धता हुई कि मनुष्य स्थूल शरीरकी दृष्टिसे स्वतंत्र है, तथापि कारण शरीरकी दृष्टिसे सब मानवोंकी एकता है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र भी है और उनका समूह सामूहिक दृष्टिसे एक भी है।

प्रत्येक मनुष्य स्थूल शरीरकी दृष्टिसे व्यक्तिशः स्वतंत्र है, परंतु कारण शरीरकी दृष्टिसे सब मानव एक हैं। इससे अपने मानवी व्यवहारमें क्या परिणाम हो सकता है, वह देखना चाहिये।

स्थूल देहका संबंध स्नान खान पान से रहता है। इस विषयमें प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र है ऐसा मानकर ही व्यवहार होना चाहिये। प्रत्येक के लिये स्नान, भोजन, रहन, सहन, व्यायाम, आराम आदि स्थूल शरीर की आवश्यकताएं

मिलनी चाहिये। मनुष्यके शरीर की आवश्यकताके अनुरूप भोजनादिकी व्यवस्था उसको प्राप्त होनी चाहिये । अर्थात् बालक तरुण वृद्ध, तथा प्रयासका कार्य करनेवाले तथा बैठे रहनेवाले के लिये एक ही भोजन उपयोगी नहीं होता । इस लिये यह व्यक्तिगत आवश्यकतानुरूप ही भोजनादि होना योग्य है

स्थूल और सूक्ष्म देह प्रत्येकका पृथक् पृथक् है । इसकी आवश्यकताएं सामूहिक नहीं हो सकती । प्रत्येक को विद्याध्ययन स्वतंत्रतासे करना चाहिये, ज्ञानविज्ञान प्रत्येक को स्वतंत्रतासे प्राप्त करना चाहिये। शरीरकी स्वच्छता, मनकी पवित्रता, विचारोंकी शुद्धता के लिये प्रत्येक को व्यक्तिशः ही यत्न करना चाहिये । इस तरह वैयक्तिक उन्नतिके लिये यत्न करना प्रत्येक व्यक्तिके लिये आवश्यक है। व्यक्तिको दबाकर उसकी उन्नतिके प्रयत्न में हस्तक्षेप करना किसीको योग्य नहीं है । वैयक्तिक जीवन की मर्यादा यह है । प्रत्येक व्यक्तिको इस मर्यादामें रहकर अपने जीवन की उच्चता प्राप्त करनी चाहिये । यह स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरकी की सुस्थितिकी बात है। प्रत्येक को इस विषयमें स्वतंत्रता से अपनी उन्नतिके लिये यत्न करना चाहिये । इस तरह व्यक्तिशः प्रयत्न हुए, व्यक्तिकी उन्नति हुई, तो इसके पश्चात् व्यक्तिकी शक्तियां किस प्रयोजनके लिये लगनी चाहिये । वह प्रयोजन सार्वजनिक सेवा है ।

जनता की सेवा

व्यक्ति अंग है और समाज अंगी है। अंग की उन्नति होने पर उस व्यक्तिकी शक्तिसे समाजकी सेवा होनी चाहिये । मान लीजिये कि व्यक्तिने अपने स्वतंत्र प्रयत्नों के द्वारा ज्ञान, बल, धन और कर्म करनेकी कुशलता प्राप्त की ; इतना होनेके पश्चात् उस व्यक्तिने समाज के लिये कुछ भी नहीं किया । तो उस समाज की आनन्द प्रसन्नता नहीं होगी । वह समाज उस कारण दुःखी ही रहेगा। अनेक सुयोग्य उन्नत हुए मानवोंकी सेवा से ही जनता सुख को प्राप्त कर सकती है । संपूर्ण समाजको आनन्द प्रसन्न अवस्थामें रखना ही मानवी उन्नति का अन्तिम ध्येय है । यह तब साध्य हो सकता है कि जिस समय परम उन्नतिको प्राप्त हुई व्यक्तियां समाज की सेवा के लिये अपने आपको अर्पण करें । समाज की उन्नति की कुछ बातें निश्चित हुई हैं-

आदर्श समाज

१ समाज में पूर्ण निर्भयता स्थिर होनी चाहिये, किसी तरह कहींसे भी भय नहीं होना चाहिये, (न तत्र भयं)

२ समाज में बालमृत्यु, अपमृत्यु, रोग आदिका भय नहीं रहना चाहिये, (न मृत्युः)

३ समाज में अतिदीर्घ आयुवाले पुरुष अच्छी शारीरिक अवस्था में रहने चाहिये, (न जरा)

४ खान पान के अच्छे पौष्टिक और आरोग्यवर्धक पदार्थ प्रत्येक को जितने चाहिये उतने प्राप्त होने चाहिये । खानपान के कष्ट नहीं होने चाहिये, (न अशनाया-पिपासे)

५ समाज आनन्द प्रसन्न सुदृढ बलवान नीरोग और पुरुषार्थी होना चाहिये (शोकातिगो मोदते)

समाज में ये बातें स्थिर होनी चाहिये । कोई मनुष्य इनसे वंचित नहीं रहना चाहिये । यह तब हो सकता है कि जब समाजकी सेवा होती रहे और उसको करनेवाले श्रेष्ठ योग्यतावाले पुरुष पर्याप्त संख्यामें मिलें । राष्ट्र में केवल श्रेष्ठ पुरुष रहने से ही कार्य नहीं चलेगा, परंतु उन श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा राष्ट्रकी अखण्ड सेवा होनी चाहिये तब वह राष्ट्र सुखी हो सकेगा ।

स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर प्रत्येक मनुष्यके लिये पृथक् पृथक् है इस हेतु से इन दोनों शरीरोंकी शक्तियोंका विकास करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको स्वातंत्र्य मिलना चाहिये । इस स्वातंत्र्य से वह अपने दोनों शरीरोंको पूर्ण विकसित करे । यह उसका विकास होने पर वह विकसित मनुष्य अपने विकसित सामर्थ्यका उपयोग समाज की शक्ति बढानेके लिये तथा पूर्वोक्त पांच प्रकारकी उन्नतियाँ करने के लिये करे, यह इसलिये कि सबका कारण शरीर एक है, सब मानव समाज का एक ही कारण शरीर है । इसलिये जब तक मानवसमाज पूर्ण उन्नत नहीं रहता, परंतु छोटे छोटे अपने गुट बनाकर परस्पर स्पर्धा और युद्ध करता रहेगा, तब तक इस समाज के दुःख दूर नहीं होंगे । इस समय मानवोंके ऐसे गुट बने हैं और वे झगडे बढा रहे हैं । यह नहीं होना चाहिये ।

चार वर्ण और चार आश्रम

मानव समाजमें छोटे छोटे गुट हों, पर वे एक ध्येय की पूर्ति के लिये कार्य करते जांय। जैसे आर्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं। ये चार रहन सहनसे यद्यपि पृथक् थे तथापि इनका ध्येय एक ही था। एक कार्य के लिये यत्न करते थे। जिस तरह एक शरीरमें ज्ञान-ग्रहण करनेवाला सिर, संरक्षण करनेवाले बाहु, रक्त तैयार करके शरीरका पोषण करने के लिये पेट और कर्म करने के लिये पांव हैं। वैसे ही ज्ञानका प्रचार करने के लिये ज्ञानी ब्राह्मण, संरक्षण करनेवाले क्षत्रिय, धन धान्यसे पोषण करनेवाले वैश्य और कर्ममें कुशल शूद्र ये चार वर्ण राष्ट्र में हैं। व्यक्ति के शरीरके गुण विकसित होकर ये वर्ण बने हैं। इसलिये एक मनुष्य के अन्दरके ये चार गुण जिस तरह एक दूसरे को मारक नहीं होते, उसी तरह ये चारों गुणी जन राष्ट्र के लिये पोषक ही होते हैं। अतः ये गुट सहायक होते हैं।

ऐसे ये गुट सहाय्य करनेवाले हैं। परंतु स्पर्धा करने-वाले गुट सुखका नाश करते हैं, संहार भी करते हैं। इसलिये चार वर्ण आर्योंके समाज की शक्ति बढाते रहे थे। और वैसे आज हों तो जिस समाज में वे होंगे उसकी शक्ति वे बढाते ही रहेंगे। इसी तरह आश्रम चार हैं और वे सभी सहायक ही हैं।

सामाजिक उन्नति

कारण शरीरने सब मानवोंको बांध रखा है। इसलिये मानव समाज की एकता स्वीकार करके अपना कार्यक्रम करना चाहिये। यह मानव समाज अंगी है और एक एक व्यक्ति उसके अंग हैं। व्यक्तिकी इतिकर्तव्यता समाजकी उन्नतिके लिये अपना समर्पण करना है। अंग की इतिकर्तव्यता अंगीकी उन्नतिमें अपना कर्तव्य करना है। इसी तरह एक मानव व्यक्तिकी इतिकर्तव्यता मानवसमाज की पूर्वोक्त प्रकार उन्नति करनेमें अपनी शक्तियों का समर्पण करनेमें है।

असंभूति और संभूतिका यह संबंध है, व्यक्ति समष्टिका यह मेल है। व्यक्तिवाद और समाजवाद का यह समन्वय है।

असंभूतिसे व्यक्ति के दुःख दूर होते हैं और संभूतिसे समाज अमर होता है। यह जो पूर्वोक्त मंत्रका कथन है। उसका ऐसा अनुभव देखा जा सकता है।

तत्त्वोंका अज्ञान

युरोप अमेरिका निवासी मनुष्योंको प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर तीन शरीर हैं, वे स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारण शरीर हैं। इनमें स्थूल और सूक्ष्म शरीर प्रत्येक व्यक्तिके पृथक् पृथक् हैं और कारण शरीर सब मानवोंका एक है। इस आर्य तत्त्वज्ञानको ये युरोपवासी जानते ही नहीं। वे समझते हैं कि यहां मनुष्य हैं और उनका मानव समाज है। व्यक्ति स्वातंत्र्यवादी व्यक्तिको पूर्ण स्वतंत्र करना चाहते हैं, और ये समाजसंघटना का नाश करते हैं। समाज-वादी समाजसंघटना करके मानव समाजको विशेष बलवान बनानेका यत्न करके अपना संघबल बढाने के लिये व्यक्तिकी स्वतंत्रताको नष्ट करके मनुष्यको केवल एक जीवित यंत्र बनाते हैं।

दुःखका कारण

इनमें अन्यान्य मत मतांतर संमिलित हैं। ये मतवाले एक दूसरेका द्वेष करके दूसरेका पूर्ण नाश करके स्वयं स्थायी रहनेके इच्छुक हैं। इन झगडोंके कारण मानव समाज युद्धों-की अग्नि से जल रहा है और दुःखी हो रहा है।

समन्वयसे शाश्वत सुख

ऐसी अवस्थामें यह वैदिक धर्मका सिद्धान्त यदि उनके समझमें आजायगा, कि स्थूल सूक्ष्म शरीरके क्षेत्रतक मनुष्य व्यक्ति स्वातंत्र्यका भोग कर सकता है, परंतु कारण शरीरके क्षेत्र में मानव समाज स्वभावतः एक अभिन्न अनन्य तथा अखंड है इसलिये उस समूह का हित करनेके लिये मानव व्यक्तिको अपनी शक्तियों का समर्पण करना चाहिये। इस तरह व्यक्तिवाद और समाजवाद का समन्वय वैदिक धर्मने किया है और वह सत्य तत्त्वज्ञान की बुनियाद पर किया है अतः यह सुख देनेवाला है।

युरोप अमेरिकाके लोग यह समझेंगे तो उनके झगडे दूर होंगे और उनकी शक्ति मानवी उन्नति करनेमें लग जायगी और निःसंदेह विश्वका कल्याण होगा।

यह सत्य सनातन तत्त्वज्ञान भारतीय आर्योंके पास है।

परंतु ये भी यूरोपके ही मार्गोंसे जा रहे हैं। अतः इनको भी यह आर्य तत्वज्ञान समझाना चाहिये।

संभूति और असंभूति इन दोनोंका समन्वय हितकारी है। इसलिये व्यक्तिभावसे व्यक्तिके दुःख दूर करो और संघभावसे अमरत्वको प्राप्त करो। इस तरह का समन्वय ही हमें अपने वैयक्तिक और सामुदायिक आचरण में लाना चाहिये।

विवादोंसे संतप्त हुए जगत को सच्ची शान्तिका यह वेदका सन्देश है। जो इसको अपनायेंगे वे आनन्दमय प्रसन्नतायुक्त शान्ति प्राप्त करेंगे।

प्रश्न

१ व्यक्तिवादका स्वरूप क्या है?
२ समाजवाद का वर्णन करो?
३ साम्यवाद किसे कहते हैं? और राष्ट्रीय समाजवाद क्या है?
४ 'मम-सत्यं' क्या है?
५ 'मम-सत्यं' में लोग क्या करते हैं?
६ प्रभु किसकी सहायता करता है?
७ यज्ञका क्या लक्षण और फल क्या है?
८ व्यक्ति स्वातंत्र्यका क्या परिणाम होता है?
९ समाजवाद का सिद्धान्त क्या है?
१० व्यक्तिवाद और समाजवादके हानि और लाभ क्या है?
११ व्यक्ति किस तरह समाजके आधारसे रहती है?
१२ जगत् और जगतीका संबंध क्या है?
१३ संभूति और असंभूतिका अर्थ क्या है? इनके पर्याय शब्द कौनसे हैं?
१४ संभूति और असंभूतिमें रमनेवालोंका अधःपतन कैसे होता है?
१५ अपने शरीरकी घृणा मनुष्यको क्यों होती है?
१६ कौन अन्य मनुष्योंसे संपर्क छोडता और एकान्तमें ही रहता है?
१७ ब्रह्मचर्य और संन्यास कौन पसंद करते हैं?
१८ विभेदोंकी वृद्धि और सामूहिक निर्बलता कहां होती है?
१९ केवल संघटनाके भक्तोंका परिणाम क्या होता है?
२० मानवताकी हानि किस कारण होती है और उसको टालनेका उपाय क्या है?
२१ संभूति असंभूतिमें समन्वय कैसा होगा?
२२ अमरत्वकी प्राप्ति कैसी होती है?
२३ क्या कभी व्यक्ति अमर हो सकती है?
२४ वैयक्तिक प्रयत्नोंसे किस तरह दुःख दूर होंगे? यह उदाहरणोंसे सिद्ध करो।
२५ योगसाधन, वैयक्तिक है या सामुदायिक? या दोनों?
२६ सार्वजनिक जीवन में योगसाधन कौनसा है?
२७ अपरिग्रह का अर्थ क्या और इससे लाभ कौनसा होता है?
२८ अंग अंगी संबंध कैसा है?
२९ विश्वरूप किसका रूप है?
३० ज्येष्ठ ब्रह्मका रूप कौनसा है?
३१ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये विराट् पुरुष के कौनसे अवयव हैं?
३२ विश्वजीवन एक कैसा है?
३३ क्या व्यक्तिसत्ता मारती है अथवा सुरक्षित रखती है?
३४ व्यक्ति कहांतक स्वतंत्र है?
३५ मनुष्यके देह कितने हैं? उनमें वैयक्तिक देह कितने और सामुदायिक कितने?
३६ भेदोंमें अभेद और अभेदोंमें भेद किस तरह है?
३७ व्यक्तिको सार्वजनिक सेवा क्यों करना चाहिये?
३८ आदर्श समाजमें कौनसे लक्षण होते हैं?
३९ चार वर्णों और चार आश्रमोंके कर्म कौनसे हैं? और उनसे कौनसे लाभ होते हैं?

९११ प्र णो यच्छत्वर्यमा ऋ० १०।१४१।२ अथर्व० ३।२०।३; वा० सं० ९।२९ तै० सं० १।७।१०।२

७०५ प्र तत् ते अद्य शिपिविष्ट नामार्य ७।१००।५; सा० सं० २।९७६, तै० सं० २।२।१२।५; मै० सं० ४।१०।१, १४४।६, का० सं० ६।१०

६४० प्रति केतवः प्रथमा अदृश्रन् ७।७८।१

८४१ प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रः ७।१०४।२५; अथर्व० ८।४।२५

६५५ प्रति त्वा दुहितर्दिवः ७।८१।३

६४४ प्रति त्वाद्य सुमनसो बुधन्त ७।७८।५

६३० प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा ७।७६।६

६२४ प्रति द्युतानामरुषासो अश्वाः ७।७५।६

३२७ प्रति नः स्तोमं त्वष्टा जुषेत ७।३४।२१

५६३ प्रति वां रथं नृपती जरध्यै ७।६७।१

५३९ प्रति वां सूर उदिते सूक्तैः ७।६५।१॥७।६६।७, सा०सं० २।४।७

६५० प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा ७।८०।१

८२३ प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं ७।१०४।७ अथर्व० ८।४।७

६४१ प्रति षीमग्निर्जरते समिद्धः ७।७८।२

४ प्र ते अग्नयोऽग्निभ्यो वरं नि० ७।१।४

६५३ प्रत्यु अदर्श्यायत्युच्छन्ती ७।८१।१, सा० सं० १।३०३,२।१०१, तै० ब्रा० ३।१।३।१

८९० प्र दानुदो दिव्यो दानुपिन्व ऋ० ९।९७।२३

४३९ प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी नमोभिः ७।५३।१; ऐ० ब्रा० ५।५।८ कौ० ब्रा० २२।९

४४० प्र पूर्वजे पितरा नव्यसीभिः ७।५३।२; तै० सं० ४।१।११।४; मै० सं० ४।१०।३; १५०।१६; तै० ब्रा० २।८।४।७

८५७ प्र प्यायस्व प्र स्यन्दस्व ऋ० ९।६७।२८

८३ प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि ७।८।४; वा० सं० १२।३४; तै० सं० ४।१।३।२; ४।२।३।१; मै० सं० २।७।१०, ८७।१६; का० सं० १६।१० ऐ० ब्रा० १।१७।१०; श० ब्रा० ६।८।१।१४

५२६ प्र बाहवा सिसृतं जीवसे न ७।६२।५; वा० सं० २१।९; तै० सं० १।८।२२।३ मै० सं० ४।११।२; १६६।१३; का० सं० ४।१६; कौ० ब्रा० १८।१३, तै० ब्रा० २।७।१५।६; ८।६।७

४६६ प्र बुध्न्या व ईरते महांसि ७।५६।१४; तै० सं० ४।३।१३।६, मै० सं० ४।१०।५; १५४।१४, का० सं० २१।१३

३९३ प्र ब्रह्माणो अंगिरसो नक्षन्त ७।४२।१, ऐ० ब्रा० ५।२०।८; कौ० ब्रा० २६।११

३४७ प्र ब्रह्मैतु सदनादृतस्य वि ७।३६।१, कौ० ब्रा० २५।२

५४४ प्र मित्रयोर्वरुणयोः स्तोमो ७।६६।१; गो० ब्रा० २।३।१३

६२८ प्र मे पन्था देवयाना ७।७६।२

४८० प्र यज्ञ एतु हेत्वो न ७।४३।२

१९३ प्र यन्ति यज्ञं विपयन्ति बर्हिः ७।२१।२

८३३ प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तं ७।१०४।१७, अथर्व० ८।४।१७

७३२ प्र याभिर्यासि दाश्वांसमच्छा ७।९२।३; वा० सं० २७।२७; तै० सं० २।२।१२।७; मै० सं० ४।१०।६, १५८।४, का० सं० १०।१२, ऐ० ब्रा० ५।१६।११

१६६ प्र ये गृहादममदुस्त्वाया ७।१८।२१

६१८ प्र ये ययुरवृकासो रथा ७।७४।६

२५४ प्र व इन्द्राय मादनं ७।३१।१, सा० सं० १।१५६; २।६६ पं० वि० ब्रा० ९।२।२

८३५ प्र वर्तय दिवो अश्मानमिन्द्र ७।१०४।१९, अथर्व० ८।४।१९

४७ प्र वः शुक्राय भानवे भरध्वं ७।४।१, मै० सं० ४।१४।३, २१८।४, का० सं० ७।१६, कौ० ब्रा० १२।७, २६।८, तै० ब्रा० २।८।२।३

५७४ प्र वामन्धांसि मद्यान्यस्थुररं ७।६८।२; ऐ० ब्रा० ४।११।२०

५७५ प्र वां रथो मनोजवा इयर्ति ७।६८।३

५१६ प्र वां स मित्रावरुणा वृतावा ७।६१।२

३७३ प्र वाव्रजे सुप्रया बर्हिरेषामा ७।३९।२; वा० सं० ३३।४४; निरु. ५।२८

७१६ प्र वीरया शुचयो दद्रिरे ७।९०।१; वा० सं० ३३।७०; ऐ० ब्रा० ५।२०।८; कौ० ब्रा० २६।८

७३ प्र वो देवं चित् सहसानम् ७।७।१

३५४ प्र वो महीमरमतिं कृणुध्वं ७।३६।८

२६३ प्र वो महे महिवृधे भरध्वं प्रचेतसे ७।३१।१०; सा० सं० १।३२८; २।११४३। अथर्व० २०।७३।३; पं० विं ब्रा० १२।१३।१९

३९९ प्र वो यज्ञेषु देवयन्तो ७।४३।१; ऐ० ब्रा० ५।१६।११; कौ० ब्रा० २६।८

३०७ प्र शुक्रैतु देवी मनीषा ७।३४।१; मै० सं० ४।९।१४; १३४।११; ऐ० ब्रा० ५।५।१०; कौ० ब्रा० २२।९; पं० विं० ब्रा० १।२।९; ६।६।१६

७०४ प्र शुन्ध्युवं वरुणाय प्रेष्ठां मतिं ७।८८।१

६६ प्र सम्राजो असुरस्य प्रशस्तिं ७।६।१; सा० सं० १।७८; कौ० ब्रा० २२।९

४८५ प्र साकमुक्षे अर्चता गणाय ७।५८।१

४९० प्र सा वाचि सुष्टुतिर्मघोनामिदं ७।५८।६

७११ प्र सोता जीरो अध्वरेष्वस्थात् ७।९२।१; ऐ० ब्रा० ५।१६।११; कौ० ब्रा० २६।१५

८७५ प्र हंसासस्तृपलं मन्युमच्छामादः ऋ० ९।९७।८; सा० सं० २।४६७

८६२ प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यः ऋ० ९।९०।१; सा० सं० १।५३६

५७ प्राग्नये तवसे भरध्वं गिरं ७।५।१

१०६ प्राग्नये विश्वशुचे धियंधेऽसुरघ्ने ७।१३।१

७५ प्राचीनो यज्ञः सुधितं हि बर्हिः ७।७।३

५६७ प्राचीमु देवाश्विना धियं मे ७।६७।५

३८६ प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे ७।४१।१; अथर्व० ३।१६।१; वा० सं० ३४।३४; तै० ब्रा० २।८।९।७

३८७ प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम ७।४१।२; अथर्व० ३।१६।२; वा० सं० ३४।३५; तै० ब्रा० २।८।९।७; निरु० १२।१४

४६१ प्रिया वो नाम हुवे तुराणामायत् ७।५६।१०; तै० सं० २।१।११।१; मै० सं० ४।११।२; १६७।१४; का० सं० ८।१७

१७८ प्रियास इत् ते मघवन्नभिष्टौ ७।१९।८; अथर्व० २०।३७।८

९०८ प्रेता जयता नर उग्रा अथर्व० ३।१९।७; ऋ० १०। १०३।१३; सा० सं० २।१२११; वा० सं० १७।४७

२ प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नो ७।१।३; सा० सं० १।७२५, वा० सं० १७।७६; तै० सं० ४।६।२।४; ५।४।७।३

७८१ प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि ७।९८।५; अथर्व० २०।८७।५

३८ प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् ७।३।२; सा० वे० २।५७०; वा० सं० १५।६२; तै० सं० ४।४।३।३ मै० सं० २।८।१४; ११८।९; का० सं० १७।१०; श० ब्रा० ८।७।३।१२

५१७ प्रोरोर्मित्रा वरुणा पृथिव्याः ७।६१।३

४५२ प्रोष्ठेशया वह्येशया ७।५५।८ अथर्व० ४।५।३

५५३ बह्वः सूर चक्षसो ७।६६।१०; ऐ० ब्रा० ४।१०।९; ५।६।७

७६१ बृहदु गायिषे वचः ७।९६।१; ऐ० ब्रा० ५।६।७

४८७ बृहद् वयो मघवद्भ्यो दधात ७।५८।३

७७६ बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वः ७।९७।१०; ९८।७; अथर्व० २०।१७।१२; ८७।७; गो० ब्रा० २।४।१६; तै० ब्रा० २।५।६।३

२०४ बोधा सु मे मघवन् वाचमेमां ७।२२।३; अथर्व० २०।११७।३; सा० सं० २।२७९; मै० सं० ४।१२।४; १८९।३; का० सं० १२।१५

२४५ ब्रह्मन् वीर ब्रह्मकृतिं जुषाणः ७।२९।२; ऐ० ब्रा० ४।३।३; कौ० ब्रा० २६।११

२३९ ब्रह्माण इन्द्रोप याहि विद्वानर्वाञ्चस्ते ७।२८।१; ऐ० ब्रा० ५।१८।८

८१४ ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ७।१०३।८

८१३ ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे ७।१०३।७

३९० भग एव भगवाँ अस्तु देवाः ७।४१।५; अथर्व० ३।१६।५; वा० सं० ३४।३८; तै० ब्रा० २।५।५।१; ८।९।८

३८८ भग प्रणेतर्भग सत्यराधो ७।४१।३; अथर्व० ३।१६।३; वा० सं० ३४।३६; तै० ब्रा० २।५।५।१; ८।९।८

७६३ भद्रामिद् भद्रा कृणवत् सरस्वत्यकवारी ७।९६।३
८६९ भद्रा वस्त्रा समन्या ३ वसानः ऋ० ९।९७।२; सा० सं० २।७५०
२७२ भवा वरूथं मघवन् मघोनां ७।३२।७
१९५ भीमो विवेषायुधेभिरेषामपांसि ७।२१।४
४७५ भूरि चक्र मरुतः पित्र्याण्युक्थानि ७।५६।२३
२०७ भूरि हि ते सवना मानुषेषु ७।२२।६; सा० सं० २।११५०
२८० मघोनः स्म वृत्रहत्येषु चोदय ७।३२।१५, सा० सं० २।१०३३
८६६ मत्सि सोम वरुणं मत्सि मित्रं ऋ० ९।९०।५
४७८ मघ्वो वो नाम मारुतं यजत्राः ७।५७।१; ऐ० ब्रा० ५।१५।६
२७८ मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं ७।३२।१३; अथर्व० २०।५९।४
९७ मन्द्रं होतारमुशिजो यविष्ठमग्निं ७।१०।५
९८ महाँ अस्य अध्वरस्य प्रकेतो ७।११।१
२६० महाँ उतासि यस्य ते ७।३१।७
६२० महे नो अद्य सुविताय बोध्युषः ७।७५।२
६६४ महे शुल्काय वरुणस्य नु त्विषः ७।८२।६
२४ महो नो अग्ने सुवितस्य विद्वान् ७।१।२४
७१० मा कस्य नो अररुषः ७।९४।८
१७७ मा ते अस्यां सहसावन् ७।१९।७; अथर्व० २०।३७।७; तै० सं० १।६।१२।५; मै० सं० ४।१२।३;१८३।२
३८४ मात्र पूषन्नाघृण इरस्यो ७।४०।६
२२ मा नो अग्ने दुर्भृतये सचैषु ७।१।२२
१९ मा नो अग्नेऽवीरते परा दा ७।१।१९
२९२ मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो ७।३२।२७; अथर्व० २०।७९।२; सा० सं० २।८०७; पं० विं० ब्रा० ४।७।५
२५८ मानो निदे च वक्तवे ७।३१।५; अथर्व० २०।१८।५
८३९ मा नो रक्षो अभि नड्यातुमावतामपोच्छतु ७।१०४।२३ अथर्व० ८।४।२३
४१६ मा नो वधी रुद्र मा परा ७।४६।४
३२३ मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा ५।४१।१६;७।३४।१७; निरु० १०।४५

७४५ मा पापत्वाय नो नरेन्द्राग्नी ७।९४।३; सा० सं० १।२६८
४७३ मा वो दात्रान्मरुतो निरराम ७।५६।२१
११ मा शूने अग्ने नि षदाम नृणां ७।१।११
२७४ मा स्रेधत सोमिनो दक्षता ७।३२।९
९३१ मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रः अथर्व० ३।२२।२;१०।४।१६
४३७ मित्रस्तन्नो वरुणो मामहन्त ७।५२।२
५३६ मित्रस्तन्नो वरुणो देवो अर्यः ७।६४।३
३८० मित्रस्तन्नो वरुणो रोदसी च ७।४०।२
२६६ मो षु त्वा वाघतश्चन ७।३२।१; सा० सं० १।२८४; २।१०२५; ऐ० ब्रा० ५।७।८
७११ मोषु वरुण मृन्मयं ७।८९।१
७०९ य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन् ७।८८।६
४५० य आस्ते यश्च चरति ७।५५।६; अथर्व० ४।५।५
२३५ य इन्द्र शुष्मो मघवन् ते अस्ति ७।२७।२, तै० ब्रा० २।८।५।७
९२१ य इन्द्रेण सरथं याति देवः अथर्व० ३।२१।३
४३१ यच्छल्मलौ भवति यन्नदीषु ७।५०।३
३५१ यजन्ते अस्य सख्यं वयश्च ७।३६।५
७६७ यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या ७।९७।१
७१५ यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जने ७।८९।५; अथर्व० ६।५१।३; तै० सं० ३।४।११।६, मै० सं० ४।१४।६; १९७।११; का० सं० २३।१२
४५३ यत् ते पवित्रमर्चिवदग्ने ऋ० ९।६७।२४
८५२ यत् ते पवित्रमर्चिष्यग्ने ऋ० ९।६७।२३; वा० सं० १९।४१; मै० स० ३।११।१०; १५६।३; का० सं० ३८।२, तै० ब्रा० १।४।८।१; २।६।३।४;
९३३ यत् ते वर्चो जातवेदः अथर्व० ३।२२।४
५३२ यात्रा चक्रुरमृता गातुमस्मै ७।६३।५
६७० यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो यस्मिन् ७।८३।२
७५२ यत् सोम आ सुते नरः ७।९४।१०, ऐ० ब्रा० ६।६।५; गो० ब्रा० २।५।१२
४३ यथा वः स्वाहाग्नये दाशेम ७।३।७

❀

६८० युवो राष्ट्रं बृहदिन्वति द्यौर्यौ ७।८४।२

५८५ युवोः श्रियं परि योषावृणीत ७।६९।४; मै० सं० ४।१४।१०;१३०।५; तै० ब्रा० २।८।७।८

४९२ युष्माकं देवा अवसाहनि प्रिये १।११०।७ ७।५९।१,

४८८ युष्मोतो विप्रो मरुतः शतस्वी ७।५८।४

३५७ यूयं ह रत्नं मघवत्सु धत्थ ७।३७।२

९१० ये अग्नयो अप्स्व १ न्तर्ये वृत्रे अथर्व० ३।२१।१

११० ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्ना ७।२२।९

७६५ ये ते सरस्व उर्मयो ७।९६।५; तै० सं० ३।१।११।३; मै० सं० ४।१०।१;१५२।११; का० सं० १९।१४, निरु० १०।२४

३४६ ये देवाना यज्ञिया यज्ञियाना ७।३५।१५

९१२ येन हस्ती वर्चसा संबभूव अथर्व० ३।२२।३

९१९ ये पर्वताः सोमपृष्ठा अथर्व० ३।२१।१०

८२५ ये पाकशंसं विरहन्त एवैः ७।१०४।९ अथर्व० ८।४।९

१३६ ये राधांसि ददत्यश्व्या मघा ७।१६।१०

७३३ ये वायव इन्द्रमादनासः ७।९२।४; ऐ० ब्रा० ५।१६।११

१३४ येषामिळा घृतहस्ता दुरोण आ ७।१६।८

६९ यो अपाचीने तमसी मदन्तीः ७।६।४

८०५ यो गर्भमोषधीना गवां ७।१०२।२; तै० ब्रा० २।४।५।६

९२३ यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं अथर्व० ३।२१।४

७० यो देव्यो अनमयद् वधस्नैः ७।६।५; तै० ब्रा० २।४।७।९

२१७ योनिष्ठ इन्द्र सदने अकारि ७।२४।१,१।१०४।१, सा० सं० १।३१४

४९८ यो नो मरुतो अभि दुर्हृणायुः ७।५९।८; मै० सं० ४।१०।५;१५४।९

८१६ यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने ७।१०४।१०; अथर्व० ८।४।१०

५१३ यो ब्रह्मणे सुमतिमायजाते ७।६०।११

८१४ यो मा पाकेन मनसा चरन्तं ७।१०४।८; अथर्व० ८।४।८

८३१ यो मायातुं यातुधानेत्याह ७।१०४।१६; अथर्व० ८।४।१६

७०३ यो मृळयाति चक्रुषे चिदागः ७।८७।७

७९९ यो वर्धन ओषधीना यो अपा ७।१०१।१

५९५ यो वां यज्ञो नासत्या हविष्मान् ७।७०।६

६०० यो वा रथो नृपती अस्ति वोळ्हा ७।७१।३

५३७ यो वा गर्तं मनसा तक्षदेतमूर्ध्वा ७।६४।४

५८६ यो ह स्य वां रथिरा वस्त उस्रा ७।६९।५, मै० स० ४।१४।१०, १३०।३, का० सं० १७।१८; तै० ब्रा० २।८।७।८

६९७ रदत् पथो वरुण. सूर्याय ७।८०।१; का० सं० १२।१५

३७७ ररे हव्यं मतिभिर्यज्ञियाना ७।३९।६

८८१ रसाय्यः पयसा पिन्वमान ऋ० ९।९७।१४, सा० सं० २।१५७

३१७ राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनां ७।३४।११

१४७ राजेव हि जनिभिः क्षेष्येवाऽव ७।१८।२

२६८ रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणं ७।३२।३

५५१ राया हिरण्यया मतिः ७।६६।८।; सा० सं० २।४१८

७१८ राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे ७।९०।३; वा० सं० २७।२४; मै० सं० ४।१४।२, २१७।२, तै० ब्रा० २।८।१।१

१४३ वंस्व विश्वा वार्याणि प्रचेत ७।१७।५

३५ वनस्पतेऽव सृजोपदेवानग्निः ३।४।१० ७।२।१०,

८४७ वयं हि वा हवामहे विपन्यवः ८।२६।९ ८।८७.६,

११० वयं ते अग्ने समिधा ७।१४।२

२५२ वयं ते त इन्द्र ये च देव ५।३३।५; ७।३०।४;

२५७ वयमिन्द्र त्वायवोऽभि ७।३१।४; ३।४१।७; १०।१३३।६; अथर्व० २०।१८।४; २३।७; सा० सं० १।१३२

७९७ वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि ७।९९।७; ७।१००।७; सा० सं० २।९७७, तै० सं० २।२।१२।४; का० सं० ६।१०

७०७ वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधाद् ७।८८।४

९१७ वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा अथर्व० ३।२०।८
६२३ वाजिनीवती सूर्यस्य योषा ७।७५।५
३७१ वाजेवाजेऽवत वाजिनो नः ७।३८।८; वा० सं० ९।१८; २१।११; तै० सं० १।७।८।२; ४।७।१२।१; मै० सं० १।११।२; १६२।११; का० सं० १३।१४; श० ब्रा० ५।१।५।२४; तै० सं० ४।१।११।४
३६१ वासयसीव वेधसस्त्वं नः कदा ७।३७।६
४४३ वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि ७।५।४२
४४१ वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान् ७।५४।१; तै० सं० ३।४।१०।१; मै० सं० १।५।१३; ८२।१३
४४४ वास्तोष्पते शग्मया संसदा ७।५४।३; तै० सं० ३।४।१०।१
७९४ वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां ७।१००।४; मै० सं० ४।१४।४; २२१।७; तै० ब्रा० २।४।३।५
६०६ वि चेदुच्छंत्यश्विना उषासः ७।७२।४
८३४ वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्षि १ च्छत ७।१०४।१८; अथर्व० ८।४।१८
३०८ विदुः पृथिव्या दिवो जनित्रं ७।३४।२; पं० विं० ब्रा० १।२।९; ६।६।१७
३०१ विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं ७।३३।१०
५२४ वि नः सहस्रं शुरुधो रदन्त्वृतावानो ७।६२।३
३१ विप्रा यज्ञेषु मानुषेषु कारू ७।२।७
५३० विभ्राजमान उषसामुपस्थाद् ७।६३।३
४० वि यस्य ते पृथिव्यां पाजो ७।३।४
९ वि ये ते अग्ने भेजिरे ७।१।९
५५४ वि ये दधुः शरदं मासमादहः ७।६६।११
६३५ विश्वं प्रतीची सप्रथा उदस्थाद् ७।७७।१
७ विश्वा अग्नेऽप दहारातीः ७।१।७
१५८ वि सद्यो विश्वा दृंहितानि ७।१८।१३
५८० वृकाय चिज्जसमानाय शक्तं ७।६८।८
६७७ वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते ७।८३।९
१८६ वृषा जजान वृषणं रणाय ७।२०।५
८८० वृषा शोणो अभिकनिक्रदद्गा ऋ० ९।९७।१३; सा० सं० २।१५६; पं० विं० ब्रा० ११।८।४
८८४ वृष्टिं नो अर्ष दिव्यां जिगत्नुं ऋ० ९।९७।१७
१५३ वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो ७।२८।५; २९।५; ३०।५;
६४६ व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्तून् विशः ७।७९।२
६४५ व्युषा आवः पथ्या३ जनानां ७।७९।१
६१९ व्युषा आवो दिविजा ऋतेन ७।७५।१
३१९ व्येतु दिद्युद् द्विषामशेवा ७।३४।१३
२२५ शतं ते शिप्रिन्नूतयः सुदासे ७।२५।३
८९६ शतं धारा देवजाता असृग्रन् ऋ० ९।९७।२९
४१९ शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः ७।४७।३; निरु० ५।६
३३२ शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः ७।३५।१; अथर्व० १९।१०।१; वा० सं० ३६।११
३३७ शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु ७।३५।६; अथर्व० १९।१०।६
३४३ शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु ७।३५।१२; अथर्व० १९।११।१
३३९ शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं ७।३५।८; अथर्व० १९।१०।८
३३८ शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः ७।३५।७; अथर्व० १९।१०।७
३३५ शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु ७।३५।४; अथर्व० १९।१०।४
३४४ शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु ७।३५।१३; अथर्व० १९।११।३
३४० शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः ७।३५।९; अथर्व० १९।१०।९
३४२ शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु ७।३५।११; अथर्व० १९।११।२; मै० सं० ४।१४।११; २३२।५; तै० ब्रा० २।८।६।३
३४१ शं नो देवः सविता त्रायमाणः ७।३५।१०; अथर्व० १९।१०।१०
३३३ शं नो भगः शमु नः शंसो ७।३५।२; अथर्व० १९।१०।२
३३६ शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ ७।३५।५; अथर्व० १९।१०।५

३३४ शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु ७।३५।३; अथर्व० १९।१०।३

३७० शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु ७।३८।७; वा० सं० ९।१६;२१।१०, तै० सं० १।७।८।१; मै० सं० १।११।१; १६२।१०; का० सं० १३।१४; श० ब्रा० ५।१।५।२२

१६३ शश्वन्तो हि शत्रवो रारधुष्टे ७।१८।१८

५१८ शंसा मित्रस्य वरुणस्य धाम ७।६१।४

२५१ शंसेदुक्थं सुदानव उत ७।३१।२; सा० सं० १।६७

९१८ शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः अथर्व० ३।२१।९

१८४ शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे ७।३२।१९; अथर्व० २०।८२।२; सा० सं० २।११४७, कौ० ब्रा० २२।४

५५८ शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगतस्तस्थुषस्पतिं ७।६६।१५

७३५ शुचिं नु स्तोमं नवजातमद्येन्द्राग्नी ७।९३।१; तै० सं० १।१।१४।१; मै० सं० ४।११।१;१५९।१७; का० सं० १३।१५; तै० ब्रा० २।४।८।३

४६४ शुची वो हव्या मरुतः शुचीनां ७।५६।१२; मै० सं० ४।१४।१८;२४७।६

४६० शुभ्रो वः शुष्मः क्रुध्मी मनांसि ७।५६।८

५९४ शुश्रुवांसा चिदश्विना पुरूण्यभि ७।७०।५

८६४ शूरग्रामः सर्ववीरः सहावाञ्जेता ऋ० ९।९०।३; सा० सं० २।७५९

७४४ शृणुतं जरितुर्हवं ७।९४।२;८।८५।४; सा० सं० २।२६७

२७० श्रवच्छुत्कर्णं ईयते वसूनां ७।३२।५

६५८ श्रवः सूरिभ्यो अमृतं वसुत्वनं ७।८१।६;८।१३।१२

२०५ श्रुधी हवं विपिपानस्याद्रेर्बोधा १।२२।४; सा० सं० २।११४८, ऐ० ब्रा० ५।४।१९

२९३ श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा ७।३३।१

४७४ सं यद्धनन्त मन्युभिर्जनासः ७।५६।२२; का० सं० ८।१७

७३९ सं यन्मही मिथती स्पर्धमाने ७।९३।५

८०७ संवत्सरं शशयाना ७।१०३।१; अथर्व० ४।१५।१३; निरु० ९।६

९०२ संशितं म इदं ब्रह्म अथर्व० ३।१९।१; वा० सं० ११।८१, तै० सं० ४।१।१०।३; ५।१।१०।२; मै० सं० २।७।७; ८४।६; ३।१।९, ११।११; का० सं० १६।७; १९।१०; श० ब्रा० ६।६।३।१४

७७० स आ नो योनिं सदतु प्रेष्ठः ७।९७।४; का० सं० १७।१८

१०० सखायस्त इन्द्र विश्वह स्याम ७।२१।९

४८ स गृत्सो अग्निस्तरुणश्चिदस्तु ७।४।२

४११ स घा नो देवः सविता सहावा ७।४५।३; मै० सं० ४।११।६;२२३।१७; श० ब्रा० १३।४।२।१०

६३ स जायमानः परमे व्योमनि ७।५।७, १।१४३।२;७।८।२; मै० सं० ४।११।१;१६२।९

३२१ सजूर्देवेभिरपां नपातं सखायं ७।३४।१५

६२५ सत्या सत्येभिर्महती महद्भिः ७।७५।७

३०५ सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः ७।३३।१३

१७९ सद्यश्चिन्नु ते मघवन्नभिष्टौ ७।१९।९; अथर्व० २०।३७।९

७६ सद्यो अध्वरे रथिरं जनन्त ७।७।४

२०१ स न इन्द्र त्वयताया इषे धास्त्मना ७।२१।१०, ७२०।१०

१७६ सना ता त इन्द्र भोजनानि ७।१९।६; अथर्व० २०।३७।६

३६० सनितासि प्रवतो दाशुषे चिद् ७।३७।५

४६१ सनेम्यस्मद् युयोत दिद्युं ७।५६।९; मै० सं० ४।१६७

१२२ स नो राधांस्या भरेशानः ७।१५।११

११४ स नो वेदो अमात्यमग्नी ७।१५।३; सा० सं० २।७३१

५८३ स प्रथानो अभि पञ्च भूमा ७।६९।२; मै० सं० ४।१४।१;२१९।१३०; तै० ब्रा० २।८।७।७

२९ सपर्यवो भरमाणा अभिज्ञु ७।२।४

३०४ स प्रकेत उभयस्य प्रविद्वान् ७।३३।१२

६७१ सं भूम्या अन्ता ध्वसिरा अदृक्षत ७।८३।३

३९१ समध्वरायोषसो नमन्त ७।४१।६; अथर्व० ३।१६।६; वा० सं० ३४।३९, तै० ब्रा० २।८।९।९

१३५ स मन्द्रया च जिह्वया ७।१६।९

२३ स मर्तो अग्ने स्वनीक ७।१।२३

९०३ समहमेषां राष्ट्रं स्यामि अथर्व० ३।१९।२

१०४ स महा विश्वा दुरितानि साह्वान् ७।१२।२; सा० सं० २।६५५

६३१ समान ऊर्वे अधि संगतासः ७।७६।५

१०९ समिधा जातवेदसे ७।१४।१;३।१०।३

पुनरुक्ताः मन्त्राः ।

(सर्वत्र ऋग्वेदे सप्तममण्डलस्य वसिष्ठ ऋषिः)

७।१।१३ (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः)
पाहि नो अग्ने रक्षसो अजुष्टात् पाहि धूर्तेररुषो अघायोः ।
१।३६।१५ (कण्वो घौरः । अग्निः)
पाहि नो अग्ने रक्षसः, पाहि धूर्तेरराव्णः ।
७।१।२० (अग्निः)
नू मे ब्रह्माण्यग्न उच्छशाधि त्वं देव मघवद्भ्यः सुषूद । रातौ स्यामोभयास आ ते यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥
७।१।२५ (सर्वः पुनरुक्तः । अग्निः)
७।१।२० (अग्निः)
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।
(एकोनाशीतिवारं पुनरुक्तः सप्तमे मंडले)
७।२।४— (इध्मः समिद्धोऽग्निः)
प्र वृञ्जते नमसा बर्हिरग्नौ ।
६।११।५— (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । अग्निः)
वृञ्जे ह यन्नमसा ।
७।२।६— (इध्मः समिद्धोऽग्निर्वा)
उषासानक्ता सुदुघेव धेनुः ।
१।१८६।४— (अगस्त्यो मैत्रावरुणिः । विश्वेदेवाः)
उषासानक्ता सुदुघेव धेनुः ।
७।२।८-११— (अग्निः)

आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः । सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु ॥ तन्नस्तुरीपमध पोषयित्नु देव त्वष्टर्वि रराणः स्यस्व । यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः ॥ वनस्पतेऽव सृजोप देवानग्निर्हविः शमिता सूदयाति । सेदु होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद ॥ आ याह्यग्ने समिधानो अर्वाङिन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः । बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्रा स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ॥

३।४।८-११ (गाथिनो विश्वामित्रः) (८ तिस्रो देव्यः सरस्वतीळा भारत्यः, ९ त्वष्टा १० वनस्पतिः ११ स्वाहाकृतयः)
(तथैव समानाः)
७।२।११— (इध्मः समिद्धोऽग्निर्वा)
इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः ।
३।४।११— (गाथिनो विश्वामित्रः । स्वाहाकृतयः)
इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेभिः ।
५।११।२— (सुतंभर आत्रेयः । अग्निः)
इन्द्रेण देवैः सरथं बर्हिषि ।
१०।१५।१०— (शंखो यामायनः । पितरः)
इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः ।
७।२।११— (इध्मः समिद्धोऽग्निर्वा)
स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ।
३।४।११— (गाथिनो विश्वामित्रः । स्वाहाकृतयः)
स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ।
१०।७०।११— (सुमित्रो वाध्र्यश्वः । स्वाहाकृतयः)
स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ।
७।३।२— (अग्निः)
आदस्य वातो अनु वाति शोचिः ।
१।१४८।४— (दीर्घतमा औचथ्यः । अग्निः)
आदस्य वातो अनु वाति शोचिः ।
७।३।६— (अग्निः)
वि यद् रुक्मो न रोचस उपाके ।
४।१०।५— (वामदेवो गौतमः । अग्निः)
श्रिये रुक्मो न रोचस उपाके ।

७।३।१०— (अग्निः)

एता नो अग्ने सौभगा दिदीह्यपि क्रतुं सुचेतसं वतेम। विश्वा स्तोतृभ्यो गृणते च सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

७।४।१०— (अग्निः) (तथैव समानः)

७।६०।६— (सूर्यः)

इमे मित्रो वरुणो दूळभासोऽचेतसं चिच्चितयन्ति दक्षैः। **अपि क्रतुं सुचेतसं वतन्तस्तिरश्चिदंहः** सुपथा नयन्ति ।

७।४।२— (अग्निः)

स गृत्सो **अग्निस्तरुणश्चिदस्तु** यतो यविष्ठो अजनिष्ट मातुः ।

स यो वना युवते शुचिदन् भूरि चिदन्ना समिदत्ति सद्यः ॥

१०।११५।२- (वार्ष्टिहव्य उपस्तुतः । अग्निः)

अग्निर्ह नाम धायि दन्नपस्तमः **सं यो वना युवते भस्मना दता।** अभि प्रमुरा जुह्वा स्वध्वर इनो न प्रोथमानो यवसे वृषा ॥

७।४।४- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः)

अयं कविरकविषु प्रचेता **मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि** । स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनसः स्याम ॥

१०।४५।७- (वत्सप्रिर्भालन्दनः । अग्निः)

उशिक् पावको अरतिः सुमेधा **मर्तेष्वग्निरमृतो नि धायि।** इयर्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् ॥

७।४।७— (अग्निः)

नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।

४।४१।१०- (वामदेवो गौतमः । इन्द्रावरुणौ)

नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।

७।४।९— (अग्निः)

त्वमग्ने वनुष्यतो नि पाहि त्वमु नः सहसावन्नवद्यात् । सं त्वा ध्वस्मन्वदभ्येतु पाथः सं रयिः स्पृहयाय्यः सहस्री ॥

६।१५।१२- (बार्हस्पत्यो भरद्वाजो, वीतहव्य आंगिरसो वा । अग्निः) (तथैव समानः)

७।५।२— (वैश्वानरोऽग्निः)

पृष्टो दिवि धाय्यग्निः पृथिव्यां ।

१।९८।१- (कुत्स आंगिरसः । अग्निः, वैश्वानरोऽग्निर्वा)

पृष्टो दिवि पृष्टो **अग्निः पृथिव्यां ।**

७।५।२- (वैश्वानरोऽग्निः)

नेता **सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम् ।**

६।४४।२१- (शंयुर्बार्हस्पत्यः । इन्द्रः)

वृषा **सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम् ।**

७।५।४- (वैश्वानरोऽग्निः)

अजस्रेण शोचिषा शोशुचानः ।

६।४८।३- (शंयुर्बार्हस्पत्यः तृणपाणिः । अग्निः)

अजस्रेण शोचिषा शोशुचच्छुचे ।

७।५।६- (वैश्वानरोऽग्निः)

उरु ज्योतिर्जनयन्नार्याय ।

१।११७।२१- (कक्षीवान् दैर्घतमस औशिजः । अश्विनौ)

उरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय ।

७।५।७- (वैश्वानरोऽग्निः)

स जायमानः परमे व्योमन् ।

१।१४३।२— (दीर्घतमा औचथ्यः । अग्निः)

स जायमानः परमे व्योमन् ।

६।८।२— (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । अग्निः)

स जायमानः परमे व्योमनि ।

७।६।४- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । वैश्वानरोऽग्निः)

यो अपाचीने तमसि मदन्तीः प्राचीश्चकार नृतमः **शचीभिः** । तमीशानं वस्वो अभि गृणीषेऽ**नानतं दमयन्तं पृतन्यून् ।**

१०।७४।२- (गौरिवीतिः शाक्त्यः । इन्द्रः)

शचीव इन्द्रमवसे कृणुध्व**मनानतं दमयन्तं पृतन्यून् ।** ऋभुक्षणं मघवानं सुवृक्तिं भर्ता यो वज्रं नर्यं पुरुक्षुः ॥

७।७।४ — (अग्निः)

अग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा ।

४।६।५- (वामदेवो गौतमः (अग्निः)

अग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा ।

७।७।७— (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्निः)

नू त्वामग्न ईमहे वसिष्ठा ईशानं सूनो सहसो वसूनाम् । इषं स्तोतृभ्यो मघवद्भ्य आनड् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

७।८।७- (अग्निः) **(तथैव)**

७।८।६- (अग्निः)

शं यत् स्तोतृभ्य आपये भवाति ।

१।३८।११- (गृत्समद (आगिरसः शौनहोत्र' पश्चाद्) भार्गवः शौनकः सविता)

शं यत् स्तोतृभ्य आपये भवाति ।

७।९।१- (अग्नि)

तिरस्तमो ददृशे राम्याणाम् ।

६।४८।६- (शंयुर्बार्हस्पत्यः । इन्द्र)

निरस्तमो ददृशे उर्म्यास्वा ।

७।१०।५— (अग्निः)

मन्द्रं होतारमुशिजो यविष्ठमग्नि **विश** इळते **अध्वरेषु ।**

स हि क्षपावाँ अभवद् रयीणामतन्द्रो दूतो यजथाय देवान् ।

१०।४६।४- (वत्सप्रिर्भालन्दन' । अग्निः)

मन्द्रं होतारमुशिजो नमोभि प्राञ्चं यज्ञं नेतार**मध्वराणाम्** । **विशाम**कृण्वन्नरतिं पावकं हव्यवाहं दधतो मानुषेषु ॥

७।१०।५— (अग्निः)

स हि क्षपावाँ अभवद् **रयीणाम् ।**

१।७०।५- (पराशर शाक्त्यः । अग्निः)

स हि क्षपावाँ, अग्नी **रयीणाम् ।**

७।११।१- (अग्निः)

महाँ अस्यध्वरस्य प्रकेतो न ऋते त्वदमृता मादयन्ते ।
आ विश्वेभिः सरथं याहि देवैर्न्यग्ने होता प्रथमः सदेह ॥

१०।१०४।६- (अष्टको वैश्वामित्र । इन्द्रः)

उप ब्रह्माणि हरिवो हरिभ्या सोमस्य याहि पीतये सुतस्य । इन्द्र त्वा यज्ञः क्षममाणमानड् **दाश्वाँ अस्यध्वरस्य प्रकेतः ॥**

७।११।२- (अग्निः)

त्वामीळते अजिरं **दूत्याय हविष्मन्तः सदमिन्मानुषासः**।

१०।७०।३- (सुमित्रो वाध्र्यश्व । इळः)

शश्वत्तम**मीळते दूत्याय हविष्मन्तो मनुष्यासो** अग्निम् ।

७।११।४- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्नि.)

अग्निरीशे बृहतो अध्वरस्याऽग्निर्विश्वस्य हविषः कृतस्य । क्रतुं ह्यस्य वसवो जुषन्ताऽथा **देवा दधिरे हव्यवाहम्** ।

१०।५१।३- (सौचीकोऽग्निः । विश्वे देवाः)

अयं यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत् समञ्जन्ति देवा' । अहरहर्जायते मासिमास्यथा **देवा दधिरे हव्यवाहम् ॥**

७।१२।१- (अग्नि)

अग्निः स्वे दम आ जातवेदा ।

६।१२।४- (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । अग्निः)

अग्निः स्वे दम आ जातवेदाः ।

७।१३।२- (वैश्वानरोऽग्नि')

आ रोदसी अपृणा जायमानः ।

३।६।२— (गाथिनो विश्वामित्रः । वैश्वानरोऽग्निः)

आ रोदसी अपृणा जायमानः ।

४।१८।५- (वामदेवो गौतमः । इन्द्र , अदिति')

आ रोदसी अपृणाज्जायमानः ।

१०।४५।६- (वत्सप्रिर्भालन्दनः । अग्निः)

आ रोदसी अपृणाज्जायमान ।

७।१४।१- (अग्निः)

समिधा जातवेदसे ।

३।१०।३- (गाथिनो विश्वामित्रः । अग्निः)

समिधा जातवेदसे ।

७।१४।१— (अग्निः)

वयं ते अग्ने समिधा **विधेम ।**

५।४।७- (वसुश्रुत आत्रेयः । अग्नि.)

वयं ते अग्न उक्थैर्विधेम ।

४।४।१५- (वामदेवो गौतमः । रक्षोहाग्निः)

अया ते अग्ने समिधा विधेम ।

७।१४।२- (अग्नि)

वयं देव हविषा भद्र शोचे ।

५।४।७- (**वसुश्रुत** आत्रेयः । अग्नि.)

वयं हव्यैः पावक **भद्रशोचे ।**

७।१४।३- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ' अग्निः)

आ नो देवेभिरुप देवहूतिमग्ने याहि वषट्कृतिं जुषाणः। तुभ्य देवाय दाशतः स्याम **यूयं पात स्वस्तिभिः सदा न ॥**

७।१७।७- (अग्निः)

ते ते **देवाय दाशतः स्याम** महो नो रत्ना विदध इयानः ।

७।१५।१- (अग्निः)

यः पञ्च चर्षणीरभि ।

६।१०१।९- (नहुषो मानवः । पवमानः सोमः)
यः पञ्च चर्षणीरभि ।
५।८६।२- (भौमोऽत्रिः । इन्द्राग्नी)
या पञ्चचर्षणीरभि ।

७।१५।२- (अग्निः)
कविर्गृहपतिर्युवा ।
१।१२।६- (मेधातिथिः काण्व । अग्निः)
कविर्गृहपतिर्युवा ।
८।१०२।१- (भार्गवः प्रयोग. अग्निर्बार्हस्पत्यः, पावको वा, सहस पुत्रौ गृहपति-यविष्ठौ तयोर्वान्यतरः । अग्निः)
कविर्गृहपतिर्युवा ।

७।१५।६- (अग्नि)
यजिष्ठो हव्यवाहनः ।
१।३६।१०— (कण्वो घौर. । अग्निः)
यजिष्ठं हव्यवाहन ।
१।४५।५- (प्रस्कण्वः काण्वः । अग्निः)
यजिष्ठ हव्यवाहन ।
८।१९।२१- (सोभरिः काण्वः । अग्नि.)
यजिष्ठ हव्यवाहनम् ।

७।१५।८- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । अग्नि.)
क्षप उस्रश्च दीदिहि **स्वग्नयस्त्वया** वयम् । **सुवीरस्त्वमस्मयुः** ॥
८।१९।७- (सोभरिः काण्वः । अग्निः)
स्वग्नयो वो अग्निभिः स्याम सूनो सहस ऊर्जापते । **सुवीरस्त्वमस्मयुः** ॥

७।१५।१०- (अग्नि.)
अग्नी रक्षांसि सेधति ।
१।७९।१२- (गौतमो राहूगणः । अग्निः)
अग्नी रक्षांसि सेधति ।

७।१५।१०— (अग्निः)
शुचिः पावक ईड्य. ।
२।७।४- (सोमाहुतिर्भार्गव । अग्निः)
शुचि पावक वन्द्यः ।

७।१५।११- (अग्निः)
ईशानः सहसो यहः ।
१।७९।४- (गौतमो राहूगणः । अग्निः)
ईशानः सहसो यहः ।

७।१५।१३- (अग्नि)
अग्ने रक्षाणो अंहसः **प्रति ष्म देव रीषतः** । तपिष्ठैरजरो दह ॥
८।४४।११- (विरूप आङ्गिरसः । अग्नि)
अग्ने नि पाहि नस्त्वं प्रति ष्म देव रीषतः । भिन्धि द्वेषः सहस्कृत ॥

७।१५।१५- (अग्निः)
त्वं नः पाह्यंहसो दोषावस्त**रघायतः** । दिवा नक्तमदाभ्य ॥
६।१६।३०- (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । अग्निः)
त्वं नः पाह्यंहसो जातवेदो **अघायत.** । रक्षाणो ब्रह्मणस्कवे ॥

७।१६।१- (अग्निः)
एना वो **अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे** । **प्रियं चेतिष्ठमरतिं** स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥
१।१२८।८— (परुच्छेपो दैवोदासिः । अग्नि.)
प्रियं चेतिष्ठमरतिं ।
८।४४।१३- (विरूप आङ्गिरसः । अग्निः)
ऊर्जो नपातमा हुवेऽग्निं पावक शोचिषं । अस्मिन् यज्ञे स्वध्वरे ॥

७।१६।३- (अग्निः)
उदस्य शोचिरस्थादाजुह्वानस्य मील्हुषः । उद् धूमासो अरुषासो दिविस्पृशः समग्निमिन्धते नरः ॥
८।२३।४- (विश्वमना वैयश्वः । अग्निः)
उदस्य शोचिरस्थाद् दीदियुषो व्य१जरम् । तपुर्जम्भस्य सद्युतो गणश्रियः ॥

७।१६।४— (अग्निः प्रमाथः)
देवाँ आ वीतये वह ।
५।२६।२— (वसूयव आत्रेयाः । अग्निः)
देवाँ आ वीतये वह ।

७।१६।६— (अग्निः प्रगाथः)
त्वं हि रत्नधा असि ।
१।१५।३— (मेधातिथिः काण्वः । त्वष्टा)
त्वं हि रत्नधा असि ।

७।१६।९- (अग्निः प्रगाथः)

वह्निरासा विदुष्टरः ।

६।१६।९- (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । अग्निः)

वह्निरासा विदुष्टरः ।

७।१६।१०- (अग्नि. प्रगाथः)

शतं पूर्भिर्यविष्ठाय ।

६।४८।८- (शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिः) अग्नि)

शतं पूर्भिर्यविष्ठ पाह्यंहसः ।

७।१६।११— (अग्निः प्रगाथः)

पूर्णा विवष्ट्यासिचम् ।

२।३७।१ (गृत्समद (आंगिरस , शौनहोत्रः पश्चाद्) भार्गवः शौनकः । ऋतु देवताः)

अध्वर्यव स पूर्णा वष्ट्यासिचम् ।

७।१६।१२- (अग्नि. प्रगाथः)

दधाति रत्नं विधते सुवीर्यं ।

४।१२।३- (वामदेवो गौतमः । अग्निः)

दधाति रत्नं विधते यविष्ठः ।

४।४४।४- (पुरुमीळ्हाजमीळ्हौ सौहोत्रौ । अश्विनौ)

दधथो रत्नं विधते जनाय ।

७।१७।२- (अग्निः)

स्वध्वरा कृणुहि जातवेद॰ ।

३।६।६— (गाथिनो विश्वामित्रः । अग्नि॰)

स्वध्वरा कृणुहि जातवेद॰ ।

६।१०।१- (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । अग्निः)

स्वध्वरा करति जातवेदाः ।

७।१७।४- (अग्निः)

स्वध्वरा करति जातवेदाः ।

७।१७।७— (अग्निः)

ते ते देवाय दाशतः स्याम ।

७।१४।३- (अग्निः)

तुभ्यं देवाय दाशतः स्याम ।

७।१८।११- (इन्द्र.)

त्वा यन्तो ये अमदन्ननु त्वा ।

१।५१।१५- (सव्य आंगिरस. । इन्द्रः)

विश्वे देवासो अमदन्ननु त्वा ।

१।१०३।८— (कुत्स आंगिरसः । इन्द्रः)

विश्वे देवासो अमदन्ननु त्वा ।

७।१८।२०- (इन्द्रः)

अव त्मना बृहत. शम्बरं भेत् ।

१।५४।४— (सव्य आंगिरसः । इन्द्रः)

अव त्मना धृषता शम्बरं भिनत् ।

७।१८।२५- (इन्द्रः)

इमं नरो मरुत सश्चतानु ।

३।१६।२- (कात्य उत्कीलः । अग्निः)

इमं नरो मरुतः सश्चता वृध ।

७।१९ ४- (इन्द्रः)

भूरीणि वृत्रा हर्यश्व हंसि ।

७।२२।२— (इन्द्र)

येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि ।

७।१९।४— (इन्द्रः)

अस्वापयो दभीतये सुहन्तु ।

४।३०।२१- (वामदेवो गौतमः । इन्द्र)

अस्वापयद् दभीतये

७।१९।८- (इन्द्रः)

अतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन् ।

६।२६।३- बार्हस्पत्यो भरद्वाज. । इन्द्रः)

अतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन् ।

७।२०।३— (इन्द्रः)

युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा ।

६।१८।२- (बार्हस्पत्यो भरद्वाज । इन्द्रः)

स युध्मः सत्वा खजकृत् समद्वा ।

७।२०।३- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः)

युध्मो अनर्वा खजकृत् समद्वा शूरः सत्राषाड् जनुषेमषाळ्हः । व्यास इन्द्रः पृतनाः स्वोजा अधा विश्वं शत्रूयन्तं जघान ॥

६।१८।२- (बार्हस्पत्यो भरद्वाज । इन्द्र)

स युध्मः सत्वा खजकृत् समद्वा ।

१० २९।८- (ऐन्द्रो वासुकः । इन्द्रः)

व्यानाळिन्द्रः पृतना स्वोजा आस्मै यतन्ते सख्याय पूर्वीः ।

आ स्मा रथं न पृतनासु तिष्ठ य भद्रया सुमत्या चोदयासे ॥

७।२०।१०— (इन्द्रः)

स न इन्द्र त्वयताया इषे धास्त्मना च ये मघवानो जुनन्ति।
वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

७।२१।१०— (इन्द्रः)

(तथैव समानः)

७।२१।३— (इन्द्र)

परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः ।

२।११।२— (गृत्समद (आंगिरसः शौनहोत्रः पश्चात्) भार्गव शौनकः । इन्द्र.)

परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः ।

७।२१।४- (इन्द्रः)

अपासि विश्वा **नर्याणि विद्वान् ।**

४।१६।६- (वामदेवो गौतम. । इन्द्रः)

विश्वानि शक्रो **नर्याणि विद्वान् ।**

७।२२।२- (इन्द्र)

येन **वृत्राणि हर्यश्व हंसि ।**

७।१९।४— (इन्द्रः)

भूरीणि **वृत्रा हर्यश्व हंसि ।**

७।२२।९- (इन्द्रः)

ये च पूर्व ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः।
अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

१०।२३।७- (ऐन्द्रो विमदः प्राजापत्यो वा, वासुको वसुकृद्वा । इन्द्रः)

माकिर्न एना सख्या वि यौषुस्तव चेन्द्र विमदस्य च ऋषेः।
विद्मा हि ते प्रमतिं देव जामिव**दस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि ॥**

७।२३।३— (इन्द्रः)

इन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान् ।

६।४४।१४- (शंयुर्बार्हस्पत्यः । इन्द्रः)

इन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघान ।

७।२३।४- (इन्द्रः)

याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा ।

३।३५।१- (गाथिनो विश्वामित्रः । इन्द्रः)

याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा ।

७।२३।५- (इन्द्रः)

अस्मिञ्छूर सवने मादयस्व ।

२।१८।७— (गृत्समद (आंगिरसः शौनहोत्र पश्चाद्) भार्गव शौनकः । इन्द्रः)

अस्मिञ्छूर सवने मादयस्व ।

७।२९।२- (इन्द्रः)

अस्मिन्नू षु सवने मादयस्व ।

७।२३।६— (इन्द्र)

एवेदिन्द्रं **वृषणं वज्रबाहुम् ।**

९।९७।४९— (कुत्स आंगिरसः । पवमानः सोमः)

अभीन्द्रं **वृषणं वज्रबाहुम् ।**

७।२३।६- (इन्द्रः)

वसिष्ठासो **अभ्यर्चन्त्यर्कैः ।**

६।५०।१५- (ऋजिश्वा भारद्वाजः । विश्वे देवाः)

भरद्वाजा **अभ्यर्चन्त्यर्कैः ।**

७।२३।६— (इन्द्रः)

स नः स्तुतो वीरवद् धातु गोमद् ।

१।१९०।८- (अगस्त्यो मैत्रावरुणिः । बृहस्पतिः)

स नः स्तुतो वीद् धातु गोमद् ।

७।२४।१— (इन्द्रः)

योनिष्ट इन्द्र सदने **अकारि ।**

१।१०४।१- (कुत्स आंगिरसः । इन्द्रः)

योनिष्ट इन्द्र निषदे **अकारि ।**

७।२४।२- (इन्द्रः)

सुतः सोमः परिषिक्ता मधूनि ।

१।१७७।३- (अगस्त्यो मैत्रावरुणिः । इन्द्रः)

सुतः सोमः परिषिक्ता मधूनि ।

७।२४।३- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः)

आ नो दिव आ पृथिव्या ऋजीषिन्निदं बर्हिः सोमपेयाय याहि । वहन्तु त्वा हरयो मद्र्यञ्चमाङ्गूषमच्छा तवसं मदाय ॥

८।७९।४— (कृत्नुर्भार्गवः । सोमः)

त्वं चित्ती तव दक्षैर्दिव **आ पृथिव्या ऋजीषिन् ।**
यावीरघस्य चिद् द्वेषः ॥

७।२४।४ — (इन्द्रः)

आ नो विश्वाभिरूतिभिः सजोषा ब्रह्म जुषाणो हर्यश्व याहि। वरीवृजत् स्थविरेभिः सुशिप्राऽस्मे दधद् वृषणं शुष्ममिन्द्र ॥

८।८।१ — (सध्वंसः काण्वः । अश्विनौ)

आ नो विश्वाभिरूतिभिराश्विना गच्छतं युवम्।
दस्रा हिरण्यवर्त्तनी पिबतं सोम्यं मधु ॥

१।९२।१८ — (गोतमो राहूगण. । अश्विनौ),

एह देवा मयोभुवा **दस्रा हिरण्यवर्तनी।**

६।६०।१५ — (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । इन्द्राग्नी)

वीत हव्यान्या गतं **पिबतं सोम्यं मधु।**

५।७५।३ - (अवस्युरात्रेयः । अश्विनौ)

अश्विना गच्छतं युवाम्।

८।८।१८ - (सध्वंसः काण्व. । अश्विनौ)

आ वां विश्वाभिरूतिभिः प्रियमेधा अहूषत।
राजन्तावध्वराणामश्विना यामहूतिषु ॥

१।४५।४ - (प्रस्कण्वः काण्वः । अग्निः)

महिकेरव ऊतये **प्रियमेधा अहूषन।**
राजन्तमध्वराणामग्निं शुक्रेण शोचिषा ॥

१।१।८ (मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । अग्नि.)

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।

८।८७।३ - (कृष्ण आंगिरसो वासिष्ठो वा द्युम्नीक । आश्विनौ)

आवां विश्वाभिरूतिभिः प्रियमेधा अहूषत।
ता वर्तिर्यातमुप वृक्तबर्हिषो जुष्टं यज्ञं दिविष्टिषु ॥

७।२४।६ - (इन्द्रः)

एवा न इन्द्र वार्यस्य पूर्धि प्र ते महीं सुमतिं वे विदाम। इषं पिन्व मघवद्भ्य सुवीरां यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

७।१५।६ - (इन्द्रः) (**तथैव समानः**)

७।२५।३ — (इन्द्रः)

जहि वधर्वनुषो मर्त्यस्य।

४।२२।९ - (वामदेवो गौतमः । इन्द्रः)

जहि वधर्वनुषो मर्त्यस्य।

७।२६।५ - (इन्द्रः)

सहस्रिण उप नो माहि **वाजान्।**

१।१६७।१ - (अगस्त्यो मैत्रावरुणिः । इन्द्रः)

सहस्रिण उप नो यन्तु **वाजाः।**

७।२८।५ - (इन्द्रः)

वोचेमेदिन्द्रं मघवानमेनं महो रायो राधसो यद् ददन्न। यो अर्चतो ब्रह्मकृतिमविष्ठो यूयं पात स्वस्तिभि सदा नः ॥

७।२९।५ — (इन्द्र) (**तथैव समानः**)

७।३०।५ -- (इन्द्र) (**तथैव समानः**)

७।२९।१ — (मैत्रा वरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः)

अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्व आ तु प्र याहि हरिवस्त-दोकाः । **पिबा त्वऽस्य सुषुतस्य चारोर्ददो** मघानि-मघवन्नियानः ॥

३।५०।२ - (गाथिनो विश्वामित्रः । इन्द्र)

पिबा त्वऽस्य सुषुतस्य चारोः।

९।८८।१ - (उशना काव्यः । पवमान: सोमः)

अयं सोम इन्द्र तुभ्यं सुन्वे तुभ्यं पवते त्वमस्य पाहि। त्वं ह यं चकृषे त्वं ववृष इन्दुं मदाय युज्याय सोमम्॥

७।२९।२ - (इन्द्र.)

अर्वाचीनो **हरिभिर्याहि तूयम्।**

३।४३।३ — (गाथिनो विश्वामित्रः । इन्द्रः)

इन्द्र देवं **हरिभिर्याहि तूयम्**

७।२९।२ - (इन्द्र)

अस्मिन्नू षु सवने मादयस्व।

२।१८।७ -- (गृत्समद आंगिरसः शौनहोत्र पश्चाद् भार्गव. शौनकः । इन्द्र.)

अस्मिन्शूर सवने मादयस्व।

७।२३।५ - (इन्द्र)

अस्मिञ्छूर सवने मादयस्व।

७।२९।२ - (इन्द्रः)

उप ब्रह्माणि शृणव इमा न ।

६।४०।४ - (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । इन्द्रः)

उप ब्रह्माणि शृणव इमा नः।

७।३०।४ - (इन्द्र)

वयं ते त इन्द्र ये च देव।

५।३३।५ - (प्राजापत्यः संवरणः । इन्द्रः)

वयं ते त इन्द्र ये च नर।

७।३१।४ - (इन्द्रः)

वयमिन्द्र त्वायवः।

३।४१।७— (गाथिनो विश्वामित्रः । इन्द्रः)
वयमिन्द्र त्वायवः ।
१०।१३३।६— (सुदाः पैजवनः । इन्द्रः)
वयमिन्द्र त्वायवः ।
७।३१।१२— (इन्द्रः)
इन्द्रं वाणीरनुत्तमन्युमेव सत्रा राजानं दधिरे सहध्यै ।
हर्यश्वाय बर्हया समापीन् ॥
८।१२।२२— (पर्वतः काण्वः । इन्द्रः)
इन्द्रं वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुरः । **इन्द्रं वाणी-रनूषता समोजसे ॥**
३।३७।५— (गाथिनो विश्वामित्रः इन्द्र)
इन्द्रं वृत्राय हन्तवे ।
७।३२।२— (इन्द्रः)
इमे हि ते **ब्रह्मकृतः सुते सचा ।**
१०।५०।७— (वैकुण्ठ इन्द्रः । इन्द्रः)
एते विप्र **ब्रह्मकृतः** सुते सचा
७।३२।४— (इन्द्रः)
सोमासो दध्याशिरः ।
१।५।५— (मधुच्छन्दा विश्वामित्रः । इन्द्रः)
सोमासो दध्याशिरः ।
१।१३७।२— (परुच्छेपो दैवोदासिः । मित्रावरुणौ)
सोमासो दध्याशिरः ।
५।५१।७— (स्वस्त्यात्रेयः । विश्वेदेवाः)
सोमासो दध्याशिरः ।
९।२२।३— (काश्यपोऽसितो देवलो वा । पवमानः सोमः)
सोमासो दध्याशिरः
९।६३।१५— (निध्रुविः काश्यपः । पवमानः सोमः)
सोमासो दध्याशिरः ।
९।१०१।१२— (मनु सांवरणः । पवमानः सोमः)
सोमासो दध्याशिरः ।
७।३२।६—(मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः)
स वीरो अप्रतिष्कुत इन्द्रेण शूशुवे नृभिः ।
यस्ते गभीरा सवनानि वृत्रहन् **त्सुनोत्या च धावति ॥**
८।३१।५— (मनुर्वैवस्वतः । दंपती)
या दंपती समनसा **सुनुत आ च धावतः ।**
देवासो नित्ययाशिरा ॥
७।३२।८— (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः)
सुनोता सोमपाव्ने **सोममिन्द्राय वज्रिणे ।**
पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित् पृणन्नित् पृणते मयः ॥
९।३०।६— (बिन्दुराङ्गिरसः । पवमानः सोमः)
सुनोता मधुमत्तमं सोममिन्द्राय वज्रिणे ।
चारुं शर्धाय मत्सरम् ॥
९।५१।२— (उचथ्य आंगिरस. । पवमानः सोमः)
दिवः पीयूषमुत्तमं **सोममिन्द्राय वज्रिणे ।**
सुनोता मधुमत्तमम् ॥
७।३२।१०— (इन्द्रः)
गमत् **स गोमति व्रजे ।**
१।८६।३— (गोमतो राहूगण । मरुतः)
स गन्ता गोमति व्रजे ।
८।४६।९- (वशोऽश्व्यः । इन्द्रः)
गमेम **गोमति व्रजे ।**
७।३२।११- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । इन्द्रः)
गमद् वाजं वाजयन्निन्द्र मर्त्यो यस्य त्वमविता भुवः ।
अस्माकं बोध्यविता रथानामस्माकं शूर नृणाम् ॥
१०।१०३।४— (ऐन्द्रोऽप्रतिरथः । इन्द्रः)
बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः ।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता **रथानाम् ॥**
७।३२।२२- (इन्द्रः)
अभि त्वा शूर नोनुमः ।
८।२१।५— (सोभरिः काण्वः । इन्द्रः)
अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ।
७।३२।२३- (इन्द्रः)
न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो **न जातो न जनिष्यते ।**
१।८१।५- (गोमतो राहूगणः । इन्द्रः)
न त्वावाँ इन्द्र कश्चन **न जातो न जनिष्यते**ऽति विश्वं ववक्षिथ ।
७।३२।२५— (इन्द्रः)
सुवेदा नो वसू कृधि ।
६।४८।१५- (शंयुर्बार्हस्पत्यः (तृणपाणिः) मरुतः)
सुवेदा नो वसू करत् ।

७।३२।२५— (इन्द्रः)
अस्माकं बोध्यविता महाधने ।
६।४६।४— (शंयुर्बार्हस्पत्यः । इन्द्रः)
अस्माकं बोध्यविता महाधने ।

७।३३।७— (वसिष्ठपुत्राः, इन्द्रो वा)
तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः ।
७।१०१।१— (पर्जन्यः)
तिस्रो वाचः प्र वद **ज्योतिरग्राः ।**

७।३३।९— (वसिष्ठपुत्राः, इन्द्रो वा)
यमेन ततं परिधिं वयन्तः ।
७।३३।१२— (वसिष्ठपुत्राः इन्द्रो वा)
यमेन ततं परिधिं वयिष्यन् ।

७।३४।१७— (विश्वेदेवाः)
मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धात् ।
५।४१।१६— (भौमोऽत्रिः । विश्वेदेवाः)
मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धात् ।

७।३४।१९— (विश्वेदेवाः)
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु ।
५।४६।८— (प्रतिक्षत्र आत्रेयः । विश्वेदेवाः)
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु ।

७।३४।२५— (विश्वेदेवाः)
तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्निराप **ओषधीर्वनिनो** जुषन्त । शर्मन् त्स्याम मरुतामुपस्थे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥
१०।६६।९— (वसुकर्णो वासुक । विश्वे देवाः)
द्यावापृथिवी जनयन्नभि व्रता **ऽऽप ओषधीर्वनिनानि** यज्ञिया । अन्तरिक्षं स्व१रा पप्रुरूतये वशं देवासस्तन्वी३ नि मामृजुः ॥

७।३५।१०— (विश्वे देवाः)
शं नो देवः सविता त्रायमाणः ।
६।५०।८— (ऋजिश्वा भारद्वाजः । विश्वे देवाः)
आ नो देवः सविता त्रायमाणः ।

७।३५।१४— (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः)
आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तेदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः । शृण्वन्तु नो **दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः ॥**
१०।५३।५— (देवाः, सौचीकोऽग्निः । अग्निः, देवाः)
पञ्च जना मम होत्रं जुषन्तां **गोजाता उत ये यज्ञियासः ।** पृथिवी नः **पार्थिवात्** पात्वंहसोऽन्तरिक्षं **दिव्यात्** पात्वस्मान् ॥

७।३५।१५— (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः)
ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां **मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।** **ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥**
१०।६५।१४— (वसुकर्णो वासुक । विश्वे देवाः)
विश्वे देवाः सह धीभिः पुरंध्या **मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।** रातिषाचो अभिषाचः स्वर्विदः स्व१र्गिरो ब्रह्म सूक्तं जुषेरत ॥
१०।६५।१५— (वसुकर्णो वासुकः । विश्वे देवा)
देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे ये विश्वा भुवनाभि प्रतस्थुः । **ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभि सदा नः ॥**

७।३६।२— (विश्वेदेवाः)
जनं च मित्रो यतति ब्रुवाणः ।
३।५९।१— (गाथिनो विश्वामित्रः । मित्रः)
मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणः ।

७।३७।५- (विश्वे देवा)
सनितासि प्रवतो दाशुषे चिद् याभिर्विवेषो हर्यश्व धीभिः । ववन्मा नु ते युज्याभिरूती **कदा न इन्द्र राय आ दशस्येः ॥**
८।९७।१५- (रेभः काश्यपः । इन्द्र)
तन्म ऋतमिन्द्र शूर चित्र पात्वपो न वज्रिन् दुरिताति पर्षि भूरि । **कदा न इन्द्र राय आ दशस्ये** विश्वप्स्न्यस्य स्पृहयाय्यस्य राजन् ॥

७।३८।१- (सविता)
उदु ष्य देवः सविता ययाम ।
२।३८।१- (गृत्समद [आंगिरसः शौनहोत्रः पश्चाद्] भार्गवः शौनक । सविता)
उदु ष्य देवः सविता सवाय ।
६।७१।१- (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । सविता)
उदु ष्य देवः सविता हिरण्यया ।

६।७१।४- (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । सुविता)
उदु ष्य देवः सविता दमूना ।

७।३८।१- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । सविता)
उदु ष्य देवः सविता ययाम **हिरण्ययीममतिं यामशि-श्रेत्** । नून भगो हव्यो मानुषेभिर्वि यो रत्ना पुरूवसुर्दधाति ॥

३।३८।८- (प्रजापतिर्विश्वामित्रः । इन्द्र)
तदिन्न्वस्य सवितुर्नकिर्मे **हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत्** । आ सुष्टुती रोदसी विश्वमिन्वे अपीव योषा जनिमानि वव्रे ॥

७।३८।६- (सविता वा भगः)
अनु नन्नो जास्पतिर्मंसीष्ट **रत्नं देवस्य सवितुरियानः** । भगमुग्रोऽवसे जोहवीति भगमनुग्रो अध याति रत्नम् ॥

७।५२।३- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ । आदित्याः)
तुरण्यवोऽङ्गिरसो नक्षन्त **रत्नं देवस्य सवितुरियानाः** । पिता च तन्नो महान् यजत्रो विश्वे देवाः समनसो जुषन्त ॥

७।३८।८- (वाजिनः)
तृप्ता **यात पथिभिर्देवयानैः** ।

४।३७।१- (वामदेवो गौतमः । ऋभवः)
देवा **यात पथिभिर्देवयानैः** ।

१।१८३।६- (अगस्त्यो मैत्रावरुणि. । अश्विनौ)
एह **यातं पथिभिर्देवयानैः** ।

७।३९।४- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ. । विश्वेदेवाः)
ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमाः सधस्थं विश्वे अभि सन्ति देवाः । ताँ अध्वर उशतो यक्ष्यग्ने श्रुष्टी भगं नासत्या पुरंधिम् ॥

१०।७७।८- (स्यूमरश्मिर्भार्गव । मरुतः)
ते हि यज्ञेषु यज्ञियास ऊमा आदित्येन नाम्ना शंभविष्ठाः । ते नोऽवन्तु रथतूर्मनीषा महश्च यामन्नध्वरे चकानाः ॥

७।३९।७- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वेदेवाः)
नू रोदसी अभिष्टुते वसिष्ठैर्ऋतावानो वरुणो मित्रो अग्निः । यच्छन्तु चन्द्रा उपमं नो अर्कं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

७।४०।७- (**तथैव समान**) (विश्वेदेवाः)

७।६२।३- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । सूर्यः मित्रावरुणौ)
वि नः सहस्रं शुरुधोरदन्त्व**ृतावानो वरुणो मित्रो अग्निः । यच्छन्तु चन्द्रा उपमं अर्कं मा** नः कामं पूपुरन्तु स्तवानाः ॥

७।४०।१- (विश्वेदेवाः)
यदद्य **देवः सविता सुवाति** ।

५।४२।३- (भौमोऽत्रिः । विश्वेदेवाः)
चन्द्राणि **देव सविता सुवाति** ।

७।४०।४- (विश्वे देवाः)
सुहवा **देव्यदितिरनर्वा** ।

२।४०।६- (गृत्समद [आंगिरसः शौनहोत्र. पश्चाद्] भार्गव. शौनकः । सोमापूषणौ)
अवतु **देव्यदितिरनर्वा** ।

७।४०।५- (विश्वेदेवाः)
विष्णोरेषस्य प्रभृथे हविर्भिः ।

२।३४।११- (गृत्समद [आंगिरसः शौनहोत्र· पश्चाद्] भार्गवः शौनकः । अपा-न-पात्)
विष्णोरेषस्य प्रभृथे हवामहे ।

७।४१।५- (अर्मान्द्रमित्रावरुणाः)
तेन **वयं भगवन्त स्याम** ।

१।१६४।४०- (दीर्घतमा औचथ्यः । विश्वेदेवाः)
अथो **वयं भगवन्तः स्याम** ।

७।४१।७- (उषसः)
अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्रा । घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

७।८०।३- (उषसः)
(समानस्तथैव)

७।४२।१- (विश्वे देवाः)
प्रब्रह्माणो **अंगिरसो नक्षन्त** ।

७।५२।३- (आदित्याः)
तुरण्यवो**ऽङ्गिरसो नक्षन्त** ।

७।४२।३- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः)
समु वो यज्ञं महयन् नमोभिः प्र होता मन्द्रो रिरिच उपाके । यजस्व सु पूर्वणीक देवाना यज्ञियामरमतिं ववृत्याः ॥

७।६१।६- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । मैत्रावरुणौ)
समु वां यज्ञं महयं नमोभिर्हुवे वां मित्रावरुणा

सबाधः। प्र वां मन्मान्यृचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि ॥

७।४२।५- (विश्वेदेवाः)
इमं नो अग्ने अध्वरं जुषस्व।
५।४।८- (वसुश्रुत आत्रेयः। अग्नि)
अस्माक**मग्ने अध्वरं जुषस्व।**
६।५२।१२- (ऋजिश्वा भारद्वाजः। विश्वेदेवाः)
इमं नो अग्ने अध्वरम्।

७।४४।१- (दधिक्राः)
इन्द्रं **विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं।**
५।४६।३ (प्रतिक्षत्र आत्रेय। विश्वे देवाः)
हुवे **विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिम्।**

७।४४।१- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। दधिक्राः)
दधिक्रां वः प्रथममश्विनोषसमग्निं समिद्धं भगमूतये **हुवे।**
इन्द्रं विष्णु पूषणं ब्रह्मणस्पतिमादित्यान् द्यावापृथिवी अपः स्वः।
१०।३६।१- (लुशो धानाकः। विश्वेदेवाः)
उषासानक्ता बृहती सुपेशसा द्यावाक्षामा वरुणो मित्रो अर्यमा।
इन्द्रं हुवे मरुत पर्वतां अप **आदित्यान् द्यावापृथिवी अपः स्वः॥**

७।४४।२- (दधिक्राः)
उदीराणा यज्ञमुपप्रयन्तः।
४।३९।५- (वामदेवो गौतमः। दधिक्राः)
उदीराणा यज्ञमुपप्रयन्तः।

७।४४।५- (दधिक्राः)
ऋतस्य **पन्थामन्वेतवा उ।**
१।२४।८- (आजीगर्तिः शुनःशेप स कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरात। वरुणः)
सूर्याय **पन्थामन्वेतवा उ।**

७।४५।१- (सविता)
हस्ते दधानो नर्या पुरूणि।
१।७२।१- (पराशरः शाक्त्यः। अग्निः)
हस्ते दधानो नर्या पुरूणि।

७।४५।३- (सविता)
मर्तभोजनमध रासते नः।
१।११४।६- (कुत्सः आङ्गिरस। रुद्रः)
रास्वा च नो अमृत **मर्तभोजनम्।**

७।४६।१- (रुद्रः)
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे।
२।२१।२- (गृत्समद् भार्गव शौनक। इन्द्रः)
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे।

७।४६।४- (रुद्रः)
मा नो वधी रुद्र मा परा दा।
१।१०४।८- (कुत्सः आङ्गिरस। इन्द्र)
मा नो वधीरिन्द्र मा परा दा।

७।४७।३- (आपः)
देवी**र्देवानामपि यन्ति पाथः।**
३।८।९- (गाथिनो विश्वामित्रः। विश्वेदेवा वाश्चनः)
देवा **देवानामपि यन्ति पाथः।**

७।४७।३- (आपः)
ता इन्द्रस्य **न मिनन्ति व्रतानि।**
७।७६।५—
ते देवाना **न मिनन्ति व्रतानि।**

७।४७।३- (आपः)
सिन्धुभ्यो **हव्यं घृतवज्जुहोत।**
३।५९।१- (गाथिनो विश्वामित्रः। मित्रः)
मित्राय **हव्यं घृतवज्जुहोत।**

७।४९।१- (आपः)
ता आपो देवीरिह मामवन्तु।
७।४९।४- (आपः)
ता आपो देवीरिह मामवन्तु।

७।५०।१- (मित्रावरुणौ)
मा मां पद्येन रपसा विदत् त्सरुः।
७।५०।३- (मित्रावरुणौ)
मा मां पद्येन रपसा विदत् त्सरुः।

७।५२।२- (आदित्याः)
मा वो भुजेमान्यजात**मेनो मा तत् कर्म वसवो यच्चयध्वे।**
६।५१।७- (ऋजिश्वा भारद्वाजः। विश्वेदेवाः)
मा व एनो अन्यकृतं भुजेम **मा तत् कर्म वसवो यच्चयध्वे।**

७।५२।३- (आदित्याः)

तुरण्यवोऽङ्गिरसो नक्षन्त ।

७।४२।१- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वे देवाः)

प्र ब्रह्माणो **अंगिरसो नक्षन्त** ।

७।५२।३- (आदित्याः)

रत्नं देवस्य सवितुरियानाः ।

७।३८।६- (सविता भगो वा)

रत्नं देवस्य सवितुरियानाः ।

७।५३।१- (द्यावापृथिवी)

प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी नमोभिः ।

१।१५९।१- (दीर्घतमा औचथ्यः । द्यावापृथिवी । जगती)

प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी ऋतावृधा ।

७।५४।१- (वास्तोष्पतिः)

शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।

१०।८५।४३- (सावित्री सूर्या ऋषिका । जगती)

शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।

१०।८५।४४- (सावित्री सूर्या ऋषिका । जगती)

शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।

६।७४।१- (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । सोमारुद्रौ)

शं नो भूतं द्विपदे शं चतुष्पदे ।

७।५५।१- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । वास्तोष्पतिः)

अमीवहा वास्तोष्पते **विश्वा रूपाण्याविशन्** । सखा सुशेव एधिनः ॥

८।१५।१३- (गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ । इन्द्रः)

अरं क्षयाय नो महे **विश्वारूपाण्याविशन्** । इन्द्र जैत्राय हर्षया शचीपतिम् ॥

९।२५।४- (दृळहच्युत आगस्त्यः । पवमानः सोमः)

विश्वारूपाण्याविशन् पुनानो याति हर्यतः । यत्रामृतास आसते ॥

७।५५।२- (प्रस्वापिनी उपनिषत्)

यदर्जुन सारमेय दतः पिशंगः यच्छसे । वीव भ्राजन्त ऋष्टय **उप स्रक्केषु बप्सतो नि षु स्वप** ॥

८।७२।१५- (हर्यतः प्रागाथः । अग्निः)

उप स्रक्केषु बप्सतः कृण्वते धरुणं दिवि । इन्द्रे अग्ना नमः स्वः ॥

७।५५।३- (वास्तोष्पतिः, इन्द्रः)

स्तोतॄनिन्द्रस्य रायसि किमस्मान् दुच्छुनायसे नि षु स्वप ।

७।५५।४- (वास्तोष्पतिः, इन्द्रः)

स्तोतॄनिन्द्रस्य रायसि किमस्मान् दुच्छुनायसे नि षु स्वप ।

७।५५।७- (वास्तोष्पतिः, इन्द्रः)

सहस्रशृंगो वृषभः ।

५।१।८- (बुधगविष्ठिरावात्रेयौ । अग्निः)

सहस्रशृंगो वृषभस्तदोजाः ।

७।५६।११- (मरुतः)

स्वायुधास इष्मिणः सुनिष्का उत स्वयं तन्वः शुम्भमानाः ।

५।८७।५- (एवयामरुदात्रेयः । मरुतः । अति जगती ।

येना सहन्त ऋञ्जत स्वरोचिषः स्थारश्मानो हिरण्ययाः **स्वायुधास इष्मिणः** ।

७।५६।२३- (मरुतः)

मरुद्भिरित् **सनिता वाजमर्वा** ।

६।३३।२- (शुनहोत्रो भरद्वाजः । इन्द्रः)

त्वोत **इत् सनिता वाजमर्वा** ।

७।५६।२५= ७।३४।२५- (मरुतः)=(विश्वेदेवाः, अहिर्बुध्न्यः)

७।५६।२५- (मरुतः)

आप ओषधीर्वनिनो जुषन्त ।

७।३४।२५- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । विश्वेदेवाः)

आप ओषधीर्वनिनो जुषन्त ।

१०।६६।९- (वसुकर्णो वासुकः । विश्वेदेवाः)

आप ओषधीर्वनिनानि । यज्ञिया ।

७।५७।४- (मरुतः)

ऋधक् सा वो मरुतो दिद्युदस्तु **यद् व आगः पुरुषता कराम** । मा वस्तस्यामपि भूमा यजत्रा **अस्मे वो अस्तु सुमतिश्चनिष्ठा** ॥

१०।१५।६- (शंखो यामायनः । पितरः)

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे । मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो **यद्व आगः पुरुषता कराम** ॥

७।७०।५- (अश्विनौ)

शुश्रुवासा चिदश्विना पुरूण्यभि ब्रह्माणि चक्षाथे ऋषीणाम् ।
प्रति प्र यातं वरमा जनायाऽस्मे **वामस्तु सुमतिश्चनिष्ठा** ॥

७।५७।७- (मरुतः)

आ स्तुतासो **मरुतो विश्व ऊती** ।

५।४३।१०- (भौमोऽत्रिः । विश्वेदेवाः)

विश्वे गन्त **मरुतो विश्व ऊती** ।

१०।३५।१३- (लुशो धानाकः । विश्वेदेवाः)

विश्वे अद्य **मरुतो विश्व ऊती** ।

७।५८।३- (मरुतः)

बृहद् वयो मघवद्भ्यो दधात जुजोषन्निन्मरुतः सुष्टुतिं नः ।
गतो नाध्वा वि तिराति जन्तुं **प्र णः स्पार्हाभिरूति-भिस्तिरेत** ॥

७।८४।३- (इन्द्र । वरुणः)

कृतं नो यज्ञं विदथेषु चारुं कृतं ब्रह्माणि सूरिषु प्रशस्ता ।
उपो रयिर्देवजूतो न एतु **प्र णः स्पार्हाभिरूतिभिस्ति-रेतम्** ॥

७।५८।६- (मरुतः)

आराच्चिद् द्वेषो वृषणो **युयोत** ।

६।४७।१३- (गर्गो भारद्वाजः इन्द्रः०)

आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ।

१०।७७।६— (स्यूमरश्मिर्भार्गवः । मरुतः)

आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोत ।

१०।१३१।७— (सुकीर्तिः काक्षीवतः । इन्द्रः, अश्विनौ)

आराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ।

७।५९।१— (मरुतः)

युष्माकं देवा अवसाहनि प्रिये ।

१।११०।७— (कुत्स आंगिरसः । ऋभवः)

युष्माकं देवा अवसाहनि प्रिये ।

७।५९।१— (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । मरुतः)

युष्माकं देवा अवसाहनि प्रिय ईजानस्तरति द्विषः । **प्र स क्षयं तिरते वि महीरिषो यो वो वराय दाशति** ॥

८।२७।१६— (मनुर्वैवस्वतः । विश्वेदेवाः)

प्र स क्षयं तिरते वि महीरिषो यो वो वराय दाशति । प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्पर्यरिष्टः सर्व एधते ॥

६।७०।३— (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । द्यावापृथिवी)

प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि ।

१।४१।२— (कण्वो घौरः । वरुणमित्रार्यमणः)

अरिष्टः सर्व एधते ।

७।६०।२— (सूर्यः, मित्रावरुणौ)

विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपाः ।

६।२०।७— (ऋजिश्वा भारद्वाजः । विश्वे देवाः)

विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्रीः ।

१०।६३।८— (गयः प्लातः । विश्वेदेवाः)

विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः ।

७।६०।२— (सूर्यः, मित्रावरुणौ)

ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ।

४।१।१७— (वामदेवो गौतमः । अग्नि)

ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ।

६।५१।२— (ऋजिश्वा भारद्वाज । विश्वेदेवाः)

ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ।

७।६०।३— (सूर्यः, मित्रावरुणौ)

अयुक्त सप्त **हरितः सधस्थाद्** ।

१।११५।४— (कुत्स आंगिरसः । सूर्यः)

यदेद**युक्त हरितः सधस्थाद्** ।

७।६०।३— (सूर्यः, मित्रावरुणौ)

सं यो **यूथेव जनिमानि** चष्टे ।

४।२।१८— (वामदेवो गौतम । अग्निः)

आ **यूथेव** क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां **यज्जनिमान्त्युग्र** ।

७।६०।४— (मित्रावरुणौ)

उद् वां पृक्षासो मधुमन्तो अस्थुः ।

४।४५।२— (वामदेवो गौतमः । अश्विनौ)

उद् वां पृक्षासो मधुमन्त ईरते ।

७।६०।४— (मित्रावरुणौ)

आ सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णः ।

५।४५।१०— (सद्यापृण आत्रेयः । विश्वेदेवाः)

आ सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णः ।

७।६०।४— (मित्रावरुणौ)

मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः ।

१।१८६।२— (अगस्त्यो मैत्रावरुणिः । विश्वेदेवाः)

मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः ।

७।६०।५— (मित्रावरुणौ)
शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः।
१।२८।३— (कूर्मो गार्त्समदो। वरुणः)
यूयं न. पुत्रा अदितेरदब्धा।
७।६०।६— (मित्रावरुणौ)
अपि क्रतुं सुचेतसं वतन्तः।
७।३।१०— (अग्निः)
अपि क्रतुं सुचेतसं वतेम।
७।४।१०— (अग्निः)
अपि क्रतुं सुचेतसं वतेम।
७।६०।११— (मित्रावरुणौ)
वाजस्य सातौ परमस्य रायः।
४।१२।३— (वामदेवो गौतमः। अग्निः)
अग्निर्वाजस्य परमस्य रायः।
७।६०।११— (मित्रावरुणौ)
उरु क्षयाय चक्रिरे सुधातु।
१।३६।८— (कण्वो घौरः। अग्निः)
उरु क्षयाय चक्रिरे।
७।६०।१२— (मित्रावरुणौ)
इयं देव पुरोहितिर्युवभ्यां यज्ञेषु मित्रावरुणावकारि। विश्वानि दुर्गा पिपृतं तिरो नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।
७।६१।७— (मित्रावरुणौ)
(समानो मन्त्र)
७।६१।१— (मित्रावरुणौ)
अभि यो विश्वा भुवनानि चष्टे।
१।१०८।१— (कुत्स आंगिरसः। इन्द्राग्नी)
अभि विश्वानि भुवनानि चष्टे।
७।६१।४— (मित्रावरुणौ)
शंसा मित्रस्य वरुणस्य धाम।
१।१५२।४— (दीर्घतमा औचथ्यः। मित्रावरुणौ)
प्रियं मित्रस्य वरुणस्य धाम।
७।६१।६— (मित्रावरुणौ)
समु वां यज्ञं महयं नमोभिः।
७।४२।३— (विश्वेदेवाः)
समु वो यज्ञं महयन् नमोभिः।
७।६१।७=७।६०।१२ (मित्रावरुणौ)=(मित्रावरुणौ.)
७।६२।१— (सूर्यः)
क्रत्वा कृतः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्।
७।२६।१— (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। इन्द्रः)
पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्।
७।६२।३— (सूर्यः)
ऋतावानो वरुणो मित्रो अग्नि। यच्छन्तु चन्द्रा उपमं नो अर्कम्॥
७।३९।७- (विश्वेदेवा)
७।४०।७- (विश्वेदेवाः)
(तथैव समानः)
७।६२।४- (मित्रावरुणौ)
द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नः।
४।५५।१- (वामदेवो गौतम.। विश्वेदेवाः)
द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नः।
७।६२।५- (मित्रावरुणौ)
श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा।
१।१२२।६- (कक्षीवान् दैर्घतमस औशिजः। विश्वेदेवाः)
श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा।
७।६२।६- (मित्रावरुणौर्वसिष्ठः। मित्रावरुणौ)
नू मित्रो वरुणो अर्यमा नस्त्मने तोकाय वीरवो दधन्तु। सुगा नो विश्वा सुपथानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभि· सदा नः॥
७।६३।६- (मित्रावरुणौ अर्यमा च)
(तथैव समानः)
७।६३।४- (सूर्यः)
दूरे अर्थस्तरणिर्भ्राजमानः।
१०।८८।१६- (आंगिरसो मूर्धन्वान् वामदेव्यो वा। सूर्यवैश्वानरोऽग्निः)
अप्रयुच्छन् तरणिर्भ्राजमानः।
७।६३।५- (सूर्यमित्रावरुणाः)
यत्रा चक्रुरमृता गातुमस्मै श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः। प्रति वां सूर उदिते विधेम नमोभिर्मित्रावरुणोत हव्यैः॥

७।६५।१- (मित्रावरुणौ)
प्रति वां सूर उदिते सूक्तैर्मित्रं हुवे **वरुणं** पूतदक्षम्।
ययोरसुर्य१मक्षितं ज्येष्ठं विश्वस्य यामन्नाचिता जिगत्नु ॥
७।६६।७— (आदित्याः)
प्रति वां सूर उदिते मित्रं गृणीषे **वरुणम्**। अर्यमणं **रिशादसम्** ॥
७।६३।५- (सूर्य-मित्रावरुणाः)
नमोभिर्मित्रावरुणोत **हव्यैः**।
६।१।१०- (बार्हस्पत्यो भरद्वाजः। अग्निः।)
नमोभिरग्ने समिधोत **हव्यैः**।
७।६३।६- ७।६२।६ (मित्रावरुणौ अर्यमा च)-(मित्रावरुणौ)
७।६४।१- (मित्रावरुणौ)
राजा सुक्षत्रो **वरुणो जुषन्त**।
१।१७।२- (कूर्मो गार्त्समदो वा। आदित्या)
मित्रो अर्यमा **वरुणो जुषन्त**।
७।६४।५- (मित्रावरुणौ)
एष स्तोमो वरुण मित्र तुभ्यं सोमः शुक्रो न वायवेऽयामि। अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।
७।६५।५- (मित्रावरुणौ)
(तथैव समानः)
७।६४।५- (मित्रावरुणौ)
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीः।
७।६५।५- (मित्रावरुणौ)
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीः।
४।५०।११- (वामदेवो गौतमः। इन्द्रा बृहस्पती)
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीः।
७।९७।९- (इन्द्रा ब्रह्मणस्पती)
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीः।
७।६५।१- (मित्रावरुणौ)
प्रति वां सूर उदिते सूक्तैः।
७।६३।५- (सूर्य-मित्रावरुणाः)
प्रति वां सूर उदिते विधेम।
७।६६।७- (आदित्याः)
प्रति वां सूर उदिते।

७।६५।१- (मित्रावरुणौ)
मित्रं हुवे वरुणं पूतदक्षम्।
१।२।७- (मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। मित्रावरुणौ)
मित्रं हुवे पूतदक्षम्।
७।६५।३- (मित्रावरुणौ)
आपो न नावा दुरिता तरेम।
६।६८।८- (बार्हस्पत्यो भरद्वाज। इन्द्रावरुणौ)
आपो न नावा दुरिता तरेम।
७।६५।४- (मित्रावरुणौ)
आ नो मित्रावरुणा हव्यजुष्टिं **घृतैर्गव्यूतिमुक्षत-मिळाभिः।**
३।६२।१६- (गाथिनो विश्वामित्रः। जमदग्निर्वा। मित्रा-वरुणौ)
आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।
८।५।६- (ब्रह्मातिथिः काण्वः। अश्विनौ)
घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।
७।६५।४- (मित्रावरुणौ)
प्रति वामत्र **वरमा जनाय।**
७।७०।५- (अश्विनौ)
प्रति प्र यातं **वरमा जनाय।**
७।६५।५- ७।६४।५ (मित्रावरुणौ)=(मित्रावरुणौ)
७।६६।२- (मित्रावरुणिर्वसिष्ठः। मित्रावरुणौ)
या धारयन्त देवाः सुदक्षा दक्षपितरा। **असुर्याय प्रमहसा॥**
८।२५।३- (विश्वमना वैयश्वः। मित्रावरुणौ)
ता माता विश्ववेदसा**ऽसुर्याय प्रमहसा**। मही जजानादितिर्ऋतावरी ॥
७।६६।४- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः। मित्रावरुणौ, आदित्याः)
यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा सुवाति सविता भगः।
८।२७।१९- (मनुर्वैवस्वतः। विश्वे देवाः)
यदद्य सूर्य उद्यति प्रियक्षत्रा ऋतं दध।
यन्निम्रुचि प्रबुधि **विश्ववेदसो** यद् वा मध्यंदिने **दिवः** ॥
८।२७।२१- (मनुर्वैवस्वतः। विश्वेदेवाः)
यदद्य सूर उदिते यन्मध्यंदिन आतुचि।
वामं धत्थ मनवे **विश्ववेदसो** जुह्वानाय प्रचेतसे ॥

७।६६।४- (आदित्याः)
सुवाति सविता भगः।

५।८२।३- (श्यावाश्व आत्रेयः । सविता)
सुवाति सविता भगः ।

७।६६।६- (मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः । आदित्य)
उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये । महो राजान ईशते ॥

८।१२।१४- (पर्वतः काण्वः । इन्द्रः)
उत स्वराजे अदिति· स्तोममिन्द्राय जीजनत् । पुरुप्रशस्तमूतय ऋतस्य यत् ॥

७।६६।७- (आदित्याः)
प्रति वां सूर उदिते।

७।६३।५- (सूर्य-मित्रावरुणाः)
प्रति वां सूर उदिते विधेम।

७।६५।१- (मित्रावरुणौ)
प्रति वां सूर उदिते सूक्तैः ।

७।६६।१०- (आदित्याः)
अग्निजिह्वा ऋतावृधः।

१।४४।१४- (प्रस्कण्वः काण्वः । अग्निः)
अग्निजिह्वा ऋतावृधः ।

१०।६५।७- (वसुकर्णो वासुकः । विश्वेदेवाः)
दिवक्षसो **अग्निजिह्वा ऋतावृध ।**

७।६६।१२- (आदित्याः)
तद् वो अद्य मनामहे सूक्तैः सूर उदिते । यदोहते वरुणो मित्रो अर्यमा **यूयमृतस्य रथ्यः ॥**

८।८३।३- (कुसीदी काण्वः । विश्वेदेवाः)
अति नो विष्पिता पुरु नौभिरपो न पर्षथ । **यूयमृतस्य रथ्यः ॥**

७।६६।१६- (सूर्यः)
तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् । पश्येम **शरदः शतं जीवेम शरदः शतम् ॥**

१० ८५।३९- (सावित्री सूर्या ऋषिका । सूर्या सावित्री)
पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा । दीर्घायुरस्या यः पति**र्जीवाति शरदः शतम् ॥**

७।६६।१९- (सूर्य-मित्रावरुणाः)
पातं सोममृतावृधा।

१।४७।३- (प्रस्कण्वः काण्वः । अश्विनौ)
पातं सोममृतावृधा ।

१।४७।५- (प्रस्कण्वः काण्वः । अश्विनौ)
पातं सोममृतावृधा ।

३।६२।१८- (गाथिनो विश्वामित्रः, जमदग्निर्वा । मित्रावरुणौ)
पातं सोममृतावृधा।

८।८७।५ -(कृष्ण आंगिरसो, वासिष्ठोवा द्युम्नीकः, प्रियमेधः। अश्विनौ)
पातं सोममृतावृधा।

७।६७।६- (अश्विनौ)
अविद्वं धीष्वश्विना न आसु प्रजावद् रेतो अह्रयं नो अस्तु। **आ वां तोके तनये तूतुजानाः सुरत्नासो देववीतिं गमेम ॥**

७।८४।५- (इन्द्रावरुणौ)
इयमिन्द्रं वरुणमष्ट मे गीः **प्रावत् तोके तनये तूतुजाना। सुरत्नासो देववीतिं गमेम** यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

७।८५।५- (इन्द्रावरुणौ)
इयमिन्द्रं वरुणमष्ट मे गीः **प्रावत् तोके तनये तूतुजाना। सुरत्नासो देववीतिं गमेम** यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

७।६७।१०- (अश्विनौ)
नू मे हवमा शृणुतं युवाना यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत् । धत्तं रत्नानि जरतं च सूरीन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

७।६९।८- (अश्विनौ)
(तथैव समानः)

७।६८।३- (अश्विनौ)
प्र वां रथो मनोजवा इयर्ति ।

६।६३।७- (बार्हस्पत्यो भारद्वाजः । अश्विनौ)
प्र वा रथो मनोजवा असर्जि ।

७।६९।१- (अश्विनौ)
स पप्रथानो अभि पञ्च भूमा त्रिवन्धुरो मनसा यातु युक्तः। **विशो येन गच्छथो देवयन्तीः** कुत्रा चिद् याममश्विना दधाना ॥

ऋषि दर्शन

ऋग्वेदमें अनेक ऋषियोंके दर्शन हैं। प्रत्येक पुस्तकमें एक एक ऋषिका तत्त्वज्ञान, संहिता-मंत्र, अन्वय, अर्थ और टिप्पणी है। निम्नलिखित ग्रंथ तैयार हुए हैं। आगे छपाई चल रही है—

१ मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन	मूल्य १) रु	२ मेधातिथि ऋषिका दर्शन	मूल्य १) रु.
३ शुनःशेप	,, १) ,,	४ हिरण्यस्तूप	,, १) ,,
५ कण्व	,, १) ,,	६ सव्य	,, १) ,,
७ नोधा	,, १) ,,	८ पराशर	,, १) ,,
९ गौतम	,, १) ,,	१० कुत्स	,, २) ,,
११ त्रित	,, १) ,,	१२ संवनन	,, ०॥) ,,
१३ हिरण्यगर्भ	,, ०॥) ,,	१४ नारायण	,, १) ,,
१५ बृहस्पति	,, १) ,,	१६ वागाम्भृणी	,, १) ,,
१७ विश्वकर्मा	,, १॥) ,,	१८ सप्त	,, ०॥) ,,
१९ वसिष्ठ ऋषिका दर्शन मूल्य ७) रु		[प्रत्येकका डा. व्य अलग रहेगा।]	

यजुर्वेदका सुबोध भाष्य

अध्याय १ श्रेष्ठतम कर्मका आदेश १॥) रु अध्याय ३२ एक ईश्वरकी उपासना अर्थात् पुरुषमेध १॥) रु-
,, ३६ सच्ची शांतिका सच्चा उपाय १॥) रु अध्याय ४० आत्मज्ञान-ईशोपनिषद् १) ,,

डाक व्यय अलग रहेगा।

(३) संपूर्ण अथर्ववेदका सुबोध भाष्य मूल्य २६) रु डा व्य. ४) रु

वेदके व्याख्यान

१ मधुच्छन्दा ऋषिका अग्निमें आदर्श पुरुषका दर्शन।
२ वैदिक अर्थव्यवस्था और स्वामित्वका सिद्धान्त।
३ अपना स्वराज्य।
४ श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति और सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घायु।
५ व्यक्तिवाद और समाजवाद। ६ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ये व्याख्यान तैयार हैं। दूसरे तैयार हो रहे हैं। [प्रत्येक व्याख्यानका मूल्य ।=) छ आने और डा० व्य० =) दो आने]

उपनिषदोंके ग्रन्थ

१ ईश उपनिषद् मूल्य २) रु. डा. व्य. ॥)	२ केन उपनिषद् मूल्य १॥) रु डा व्य ॥)
३ कठ उपनिषद् ,, १॥) रु डा व्य ॥)	४ प्रश्न उपनिषद् ,, १॥) ,, ,, ,, ॥)
५ मुण्डक उपनिषद् ,, १॥) रु. डा व्य. ॥)	६ माण्डूक्य उपनिषद् ,, ॥) ,, ,, ,, =)